HINDI PADYA-PARIJAT

PART II

A SELECTION FROM PROMINENT POETS OF HINDI

SUITED FOR

Intermediate Classes of the United Provinces



Compiled and edited

BY

NAROTTAM DAS SWAMI, M.A.

Published by the Nagari-Pracharini Sabha, Benares

1933

Printed by A. Bose, at The Indian Press, Ltd.,
Benares-Branch.

हिंदी पद्य-पारिजात

दूसरा भाग

अर्थात्

हिंदी के प्राचीन तथा अर्वाचीन प्रमुख कवियों की
कवितात्रों का संग्रह

संयुक्त प्रदेश के इंटरमीडियेट क्लासों के निमित्त।

संकलनकर्त्ता तथा संपादक

नरोत्तमदास स्वामी, एम० ए०



काशी-नागरीप्रचारिणी सभा की ओर से

प्रकाशक

इंडियन प्रेस, लिमिटेड, प्रयाग

१९३३

निवेदन

पद्य-पारिजात का यह दूसरा भाग अपने प्रथम भाग का अनुज होता हुआ भी स्कूली छात्रों के उन अग्रजों के लिये है जो कालेज की आरंभिक कक्षाओं में प्रवेश कर रहे हैं। इस दृष्टि से यह अनुज अपने अग्रज से अधिक व्युत्पन्न प्रतीत होगा। है भी यह कुछ वैसा ही। इसके प्रस्तुत करने में हमने उन सब मुश्किलों को आसान समझ लिया है जो प्रथम भाग के पाठकों के सामने आती हैं। भाषा की क्लिष्टता अथवा जटिलता को भरसक दूर रखते हुए भी हमने उसकी विशेष चिंता नहीं की, क्योंकि हमको विद्यार्थियों की योग्यता पर विश्वास कर अपने साहित्य के 'पद्य-पारिजात' का वास्तविक सौरभ प्रकट कर देने की अभिलाषा थी।

साहित्य और कलाओं का रस लेने के पात्र स्कूलों के किशोर विद्यार्थियों की अपेक्षा कालेजों के नवयुवक छात्र अधिक उपयुक्त हैं। प्रेम, सौंदर्य और शृंगार के जो वर्णन छोटे छात्रों के लिये अरुचिकर अथवा अनीप्सित हो सकते हैं वे प्रौढ़बुद्धि, संयमशील युवकों के सात्त्विक आनंद के विषय बन जाते हैं। परंतु इसका यह आशय नहीं कि इस संग्रह में ऐसे ही विषयों का बाहुल्य है। बाहुल्य तो नहीं पर इनका

अभाव भी नहीं है। ये तो सभी सत्काव्यों के विषय हैं। अश्लीलता का बहिष्कार अवश्य किया गया है।

इस भाग में पहले भाग की अपेक्षा विभिन्नताएँ अधिक रखी गई हैं जो अपने साहित्य का अधिक व्यापक परिचय कराने में समर्थ होंगी। विषय-भेद ही नहीं, भाषा और छंदों आदि के भेद भी इसमें अधिक मिलेंगे। उदाहरण के लिये इसमें पं० सूर्यकांत त्रिपाठी के छंद-संबंधी वे नवीनतम प्रयोग भी रख लिए गए हैं जिनको छंद स्वीकार करने में भी अब तक हिंदी-संसार एकमत नहीं हुआ है।

जिन कालेजों के अध्यापक हिंदी के विद्वान् पंडित और आचार्य हैं उनके शिक्षार्थियों को जब यह पुस्तक पढ़ाई जायगी तब अवश्य ही साहित्य और उसके इतिहास-विषयक वह सामान्य जानकारी उन्हें पहले ही करा दी जायगी जिसकी सहायता से पुस्तक का पाठ द्विगुणित फल-प्रद हो जायगा। जहाँ इतनी सुविधा नहीं है वहाँ भी विद्यार्थी स्वत: उद्योग कर हमारे आशय को सिद्ध करने की चेष्टा करेंगे। उनको इस उद्योग में प्रेरित करने के लिये हमने कवियों और उनकी समकालीन परिस्थितियों का संक्षिप्त विवरण दे दिया है जो लाभ-प्रद होगा।

अध्यापकों की ही योग्यता पर विद्यार्थियों की योग्यता, बहुत बड़ी मात्रा में, अवलंबित रहती है। शिक्षालयों की किसी भी संग्रह-पुस्तक को इस बात की अपेक्षा रहती ही है कि

अध्यापकों के हाथ में पड़कर उसकी गतिविधि का कैसा निरूपण होगा। अपनी भाषा के साहित्य पर अपने देश के दर्शन, विज्ञान और अपनी जाति की अभिरुचि का क्या प्रभाव पड़ता है—यह सब सूक्ष्म विवेचन से ही जाना जा सकता है। संग्रह-कार की यह अभिलाषा है कि जिनके हाथों में यह पुस्तक दी जाय उन्हें उक्त तथ्यों का भी साधारण परिचय करा दिया जाय, पर इस अभिलाषा का सफल होना न होना उसके वश की बात नहीं है।

———

विषय-सूची

विषय			पृष्ठ
प्राचीन खंड			१
१. कबीरदास	...	...	३
साखी	...	...	७
सबद	...	...	१२
२. सूरदास	...	...	१८
विनय के पद	...	...	२१
बालकृष्ण	...	...	२४
यशोदा-विलाप	...	...	३१
गोपी-विरह	...	...	३४
भ्रमर-गीत	...	...	३८
३. मलिक मुहम्मद जायसी		...	४२
नागमती-वियोग	...	...	४४
४. तुलसीदास	...	...	५३
मानस-रूपक	...	...	५८
बरवै	...	...	६३
राम-वनवास	...	...	६५
गीतावली के पद	...	...	६९
बालकृष्ण	...	...	७५

विषय			पृष्ठ
विनय के पद	...	...	७७
५. मीराँबाई	...	...	८१
पद	...	...	८३
६. सेनापति	...	...	८६
ऋतु-वर्णन	...	...	९०
७. बिहारीलाल	...	...	९७
दोहे	...	...	९९
अर्वाचीन खंड			**१०७**
१. अयोध्यासिंह उपाध्याय		...	१०९
रास-क्रीड़ा	...	...	१११
२. जगन्नाथदास 'रत्नाकर'		...	१२२
गंगावतरण	...	...	१२४
३. रामचंद्र शुक्ल	...	...	१३२
महाभिनिष्क्रमण	...	...	१३५
४. मैथिलीशरण गुप्त	...	...	१४८
भरत और मांडवी	...	...	१५१
उर्मिला-लक्ष्मण-मिलन		...	१५६
५. जयशंकर 'प्रसाद'	...	...	१६०
कब	...	...	१६३
वे दिन	...	...	१६३
मेघों के प्रति	...	...	१६४

विषय			पृष्ठ
खोलो द्वार	...	...	१६५
आँसू	...	...	१६६
किरण	...	...	१६८
६. रामनरेश त्रिपाठी	...	...	१६९
बसंत की विचार-धारा		...	१७०
७. सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला'		...	१८२
प्रपात के प्रति	..	...	१८३
तरंगों के प्रति	...	...	१८४
विफल-वासना	...	...	१८५
अंजलि	...	...	१८७
जागो फिर एक बार	...	...	१८९
८. सुमित्रानंदन पंत	...	...	१९२
काला तो यह बादल है		...	१९३
कुसुम-जीवन	...	...	१९४
झर गई कली	...	...	१९५
प्रथम रश्मि	...	...	१९६
छाया	...	...	१९९
सोने का गान	...	...	२००
मौन निमंत्रण	...	...	२०१

टिप्पणी पृष्ठ १ से ५२ तक

प्राचीन-खंड

१. कबीरदास
२. सूरदास
३. जायसी
४. तुलसीदास
५. मीराँबाई
६. सेनापति
७. बिहारीलाल

१. कबीरदास

पूर्व मध्यकाल—भक्ति-युग (निर्गुण धारा)

कबीर जाति के मुसलमान जुलाहे थे। उनकी जीवनी का प्रामाणिक वृत्तांत नहीं मिलता। उनका जन्म और मरण कब हुआ तथा उनका जन्मस्थान, कुल और माता-पिता कौन थे इस विषय में लोगों में मतभेद है। कोई उनका जन्मकाल संवत् १४५६ बतलाते हैं और कोई संवत् १४९७। इसी प्रकार कोई उनका मरण संवत् १५०७ में मानते हैं और कोई संवत् १५७५ में। आजकल अधिकांश विद्वान् उनका जन्म और मरण क्रमशः संवत् १४५६ और १५७५ में मानते हैं। इस प्रकार मृत्यु के समय उनकी अवस्था ११९ वर्ष की होती है। दंत-कथा है कि उनका जन्म काशी के किसी ब्राह्मण-कुल की विधवा के गर्भ से हुआ था और उनका पालन-पोषण नीरू और उसकी स्त्री नीमा ने किया था। यह भी कहा जाता है कि वे नीरू और नीमा के ही पुत्र थे और उनका जन्म बस्ती जिले के मगहर नामक स्थान में हुआ था। कबीर की बाल्यावस्था में ही नीरू सपरिवार काशी चला आया था। जो हो, कबीर का बचपन नीरू के घर में काशी में बीता था।

उस समय उत्तरी भारत में महात्मा रामानंद स्वामी नवीन भक्ति-मार्ग का उपदेश दे रहे थे। उनका मुख्य स्थान काशी था। बालक कबीर पर उनके उपदेशों का बहुत प्रभाव पड़ा। उनके हृदय में ज्ञान की लालसा जगी। उन्होंने स्वामीजी का शिष्य बनना चाहा पर मुसलमान होने के कारण उनकी इच्छा पूरी नहीं हुई। स्वामीजी प्रतिदिन ब्राह्म-मुहूर्त्त में पंचगंगा घाट पर स्नानार्थ जाया करते थे। एक दिन कबीर पहर रात रहे ही वहाँ घाट की सीढ़ियों पर लेट रहे। अँधेरे में स्वामीजी का पैर उन पर पड़ा तो स्वामीजी ने राम-राम कहा। कबीर ने इसी को गुरु-मंत्र मान लिया। अंत में उनकी सच्ची लगन देखकर स्वामीजी ने उन्हें अपना शिष्य बना लिया। वे अपना जुलाहे का काम भी करते रहे और सत्संग भी रखते रहे। मुसलमान सूफी फकीरों का सत्संग भी उन्होंने किया। वे पढ़े-लिखे न थे पर इस प्रकार सत्संग द्वारा उन्होंने अपना ज्ञान खूब बढ़ाया और धर्म के गूढ़ रहस्यों को भली भाँति समझ लिया। उन्होंने दूर-दूर तक देशाटन भी किया और अपना अनुभव बढ़ाया। कबीर गृहस्थ थे। उनकी स्त्री का नाम लोई बतलाया जाता है और पुत्र का नाम कमाल।

कबीर का महत्त्व अनेक प्रकार से है। वे धर्मोपदेशक, धर्म-संशोधक और कवि थे। उस समय हिंदू और मुसलमान दोनों धर्मों में ऊपरी ढोंग दिनोंदिन बढ़ता जा रहा था। बाह्याडंबर का ही नाम धर्म रह गया था।

कबीर को यह सब अच्छा नहीं लगा और उन्होंने जोरों से उसका विरोध किया। दोनों धर्मों में प्रचलित अंधविश्वासों की उन्होंने कड़ी आलोचना की। वे सरल जीवन और अहिंसा के पक्षपाती थे। वे किसी को न सताने और मन को शुद्ध रखते हुए ईश्वर का भजन करने का उपदेश देते थे। उनका कहना था कि जब तक मन शुद्ध नहीं है, जब तक हृदय बुरी भावनाओं से भरा हुआ है, तब तक तीर्थ, व्रत, मूर्त्ति-पूजा आदि करने से कुछ लाभ नहीं। परमात्मा समस्त संसार में है, उसको खोजने के लिये जंगल में जाकर रहने की आवश्यकता नहीं। वे निर्गुण और निराकार परमात्मा के उपासक थे और अवतार-वाद को नहीं मानते थे। हिंदू और मुसलमानों का आपस का धार्मिक विद्वेष भी उन्हें ना-पसंद था। उन्होंने बतलाया कि यह पारस्परिक विद्वेष व्यर्थ है और इसका कारण वास्तविकता को न समझना ही है। राम और रहीम की एकता बताकर उन्होंने परमात्मा की भक्ति करने का उपदेश दिया। बहुत से हिंदू और मुसलमान उनके अनुयायी हो गए और इस प्रकार कबीर-पंथ की नींव पड़ी।

कविता की दृष्टि से कबीर का स्थान बहुत ऊँचा है। हिंदी के रहस्य-वादी कवियों में उनका प्रथम स्थान है। उनकी कविता में सच्चे हृदय से कही हुई बातें हैं जो दिल में घर कर लेती हैं। ठीक निशाने पर चोट मारने की कला में कबीर अद्वितीय हैं। उन्होंने कठिन से कठिन दार्शनिक और

अन्यान्य विषयों को उपमा, दृष्टांत आदि के द्वारा सरल शब्दों में समझाया है। पतित जातियों को ऊँचा उठाने में उनका बहुत हाथ है। उनके उपदेशों से जाति-गत ऊँच-नीच के भावों में बहुत कमी हुई। भारतीय जनता के जीवन पर कबीर का जितना प्रभाव पड़ा है उतना तुलसीदास को छोड़कर किसी कवि का नहीं पड़ा। उनकी कविता का खूब प्रचार हुआ। उनकी साखियाँ बात बात में कहावतों की भाँति प्रयुक्त की जाती हैं। सूर के भजनों की भाँति उनके भजनों का—क्या साक्षर और क्या निरक्षर—सबमें समान रूप से प्रचार है।

कबीर की शैली और भाषा में उनकी स्वतंत्र प्रवृत्ति का सर्वत्र आभास मिलता है। उनकी रचनाओं की मुख्य भाषा पूरबी है पर उसमें राजस्थानी, पंजाबी, व्रज, खड़ी-बोली आदि भाषाओं और बोलियों का बहुत मिश्रण है। उस पर राजस्थानी का प्रभाव सबसे अधिक है, यहाँ तक कि अधिकांश साखियों की भाषा शुद्ध राजस्थानी है। रचना में विविध भाषाओं का मेल होने से उसके प्रचार में बहुत सहायता मिली। भाषा प्रसाद-गुण-पूर्ण होते हुए भी ओजस्विनी और प्रभावोत्पादिनी है।

कबीर की रचनाएँ बीजक ग्रंथ में संगृहीत हैं। उसके तीन भाग हैं—साखी, सबद और रमैनी। कबीर पढ़े-लिखे न थे। वे समय समय पर जो साखी या भजन कहते थे उसको उनके शिष्य लोग लिख लेते थे। इसी कारण उनमें भाषा और व्याकरण-संबंधी बहुत गड़बड़ी पाई जाती है।

पीछे से लोगों ने भी उनके नाम से बहुत रचनाएँ कीं जो अब ऐसी मिल-जुल गई हैं कि उनका अलग करना संभव नहीं। ऐसे क्षेपककार जहाँ के हुए वहीं की भाषा में उन्होंने रचना की। भाषा-बाहुल्य का एक यह भी कारण है। तीसरे इनके मत के प्रचार के साथ साथ जिस जिस प्रांत में इनकी रचनाएँ पहुँचीं तथा समय के साथ साथ ज्यों ज्यों भाषा बदलती गई त्यों त्यों उन रचनाओं के रूप भी परिसंस्कृत होते गए।

साखी

चौसठि दीवा जोइ करि, चौदह चंदा माहिँ।
तिहिं घर किसकौ चाँनिणौ, जिहिँ घर गोबिँद नाहिँ?॥ १॥
सो साईं तन मैं बसै, ज्यूँ पुहपन मैँ बास।
कसतूरी कै मिरग ज्यूँ फिरि फिरि सूँघै घास॥ २॥
अंबर कुंजाँ कुरलियाँ, गरजि भरे सब ताल।
जिनिपै गोबिँद बीछुटे, तिनिकै कवन हवाल?॥ ३॥
अंबर घनहर छाइया, बरखि भरे सब ताल।
चातक ज्यौं तरसत रहै, तिनिकौ कवन हवाल?॥ ४॥
साँझ पड़ी, दिन आँथव्यो, चकवी दीन्ही रोइ।
चल, चकवा, वा देस मैं, साँझ कदे नहिं होइ॥ ५॥
चकवी बिछुटी रैण की आइ मिली परभाति।
जे जन बिछुटे राम सूँ, ते दिन मिलैं न राति॥ ६॥

विरह-कमंडल कर लियैं, बैरागी दो नैण ।
माँगैं दरस-मधूकरी, छक्या रहै दिन-रैण ॥ ७ ॥
बिरहिनि ऊभी पंथ-सिर पंथी बूझै धाइ ।
एक सबद कहु पीव का, कब र मिलैंगे आइ ? ॥ ८ ॥
आँखड़ियाँ झाँई पड़ी, पंथ निहारि निहारि ।
जीभड़ियाँ छाला पड़्या, राम पुकारि पुकारि ॥ ९ ॥
नैनाँ नीझर लाइया, रहट बहै निसि-जाम ।
पपिहा ज्यूँ पिव पिव करौं, कब र मिलौगे राम ? ॥१०॥
सब रग ताँत, रवाब तन, बिरह बजावै नित्त ।
और न कोई सुणि सकै, कै साँई, कै चित्त ॥११॥
हिरदा भीतरि दौं बलै, धुँवाँ न परगट होइ ।
जाकै लागी सो लखै, कै जिहि लाई होइ ॥१२॥
हँसि हँसि कंत न पाइया, जिनि पाया तिनि रोइ ।
जौ हाँसे ही हरि मिलैं नहीं दुहागिनि कोइ ॥१३॥
जिनि ढूँढ़ा तिनि पाइया गहरे पानी पैठि ।
हौं बौरी डूबन डरी, रही किनारे बैठि ॥१४॥
जेते तारे रैणि कै, तेते बैरी मुझ्झ ।
धड़ सूली, सिर काँगुरै, तऊ न बिसरौं तुझ्झ ॥१५॥
हेरत हेरत, हे सखी, रह्या कबीर हिराइ ।
बूँद समानी समँद मैं, सो कत हेरी जाइ ? ॥१६॥
जब मैं था तब हरि नहीं, अब हरि हैं मैं नाहिं ।
सब अँधियारा मिट गया, दीपक देख्या माहिं ॥१७॥

कबीर, बादल प्रेम का, हम परि बरस्या आइ।
अंतरि भीगी आतमा, हरी भई बनराइ ॥१८॥
हरिया जाँणै रूँखड़ा उस पाणी का नेह।
सूका काठ न जाणई कबहूँ वूठा मेह ॥१९॥
झिरमिर झिरमिर बरखिया पाँहण ऊपरि मेह।
माटी गलि सैँ जल भई, पाँहण वोही तेह ॥२०॥
गरजि गरजि बरसै अमी बादल गहिर गँभीर।
चहुँ दिसि दमकै दामिनी, भीजै दास कबीर ॥२१॥
मान-सरोवर सुभर जल, हंसा केलि कराहिँ।
मुगताहल मुगता चुगैँ, अब उड़ि अनत न जाहिँ ॥२२॥
हरि-रस पीया, जाँणियै, कबहुँ न जाइ खुमारि।
मैमंता घूमत रहैँ, नाहीँ तन की सारि ॥२३॥
पूजा, सेवा, नेम, व्रत, गुड़ियन का सा खेल।
जब लगि पिव परसै नहीँ, तब लगि संसय-मेल ॥२४॥
कबीर, यहु घर प्रेम का, खाला का घर नाहिँ।
सीस उतारै हाथि करि, सो पैसै घर माहिँ ॥२५॥
छिनहि चढ़ै, छिन ऊतरै, सो तौ प्रेम न होइ।
अघट प्रेम पिंजर बसै, प्रेम कहावै सोइ ॥२६॥
जा घट प्रेम न संचरै, सो घट जानु मसानु।
जैसे खाल लुहार की साँस लेत बिनु प्रानु ॥२७॥
पोथी पढ़ि-पढ़ि जग मुवा, पंडित हुवा न कोइ।
ढाई अच्छर प्रेम का पढ़ै, सु पंडित होइ ॥२८॥

तन कौ जोगी सब करैं, मन कौ बिरला कोइ।
सब बिधि सहजै पाइयै, जे मन जोगी होइ ॥२९॥
हम घर जाल्या आपणा, लिया मुराड़ा हाथि।
अब घर जालौं तासका, चलै हमारे साथि ॥३०॥
कोई ऐसा ना मिला राम-भगति का मीत।
तन-मन सौंपै मिरग ज्यूँ, सुनै बधिक का गीत ॥३१॥
ऐसा कोई ना मिला, जासौं रहियै लागि।
सब जग जलता देखिया अपणी अपणी आगि ॥३२॥
काजल केरी कोटड़ी, काजल ही का कोट।
बलिहारी ता दास की, रहै राम की ओट ॥३३॥
आसा एक ज राम की, दूजी आस निरास।
पानी माँहे घर करैं, ते भी मरैं पियास ॥३४॥
कबीर, सूता क्या करै?, जागि न जपै मुरारि।
एक दिनाँ भी सोवणा, लंबे पाँव पसारि ॥३५॥
कबीर, निरभै राम जपि जग लगि दीवै बाति।
तेल घट्या, बाती बुझी, सोवैगा दिन-राति ॥३६॥
नाम भजौ तौ अब भजौ, बहुरि भजौगे कब्ब?।
हरियर हरियर रूँखड़ा इंधण हो गए सब्ब ॥३७॥
पानी केरा बुदबुदा, अस मानस की जाति।
एक दिनाँ छिप जावसी, तारा ज्यूँ परभाति ॥३८॥
मंदिर माँहि झबूकती दीबा कैसी जोति।
हंस-बटाऊ चलि गया, काढ़ौ घर की छोति ॥३९॥

चलती चक्की देखि करि दिया कबीरा रोइ।
दुइ पाटन कै बीच मैं साबित बचा न कोइ ॥४०॥
उत थैं कोइ न आवही, जासौं बूझूँ धाइ।
इत थैं सब ही जात हैं भार लदाइ लदाइ ॥४१॥
पान झड़ंता यौं कहै, सुनि तर-वर बन-राइ।
अब कै बिछुड़े ना मिलैं, दूरि पड़ैंगे जाइ ॥४२॥
थली चरंते मिरग लै बींध्या एक ज सौंण।
हम तौ पंथी पंथ सिर, हर्‌या चरैंगा कौंण ? ॥४३॥
मैं, भँवरा, तोहि बरजिया, बन बन बास न लेइ।
अटकैगा कहुँ बेल सौं, तड़पि तड़पि जिय देइ ॥४४॥
कबीर, पगड़ा दूरि है, जिनिकै बिचि है राति।
का जाणौं, का होइगा उगवैं तैं परभाति ? ॥४५॥
काची काया, मन अथिर, थिर थिर काम करंत।
ज्यूँ ज्यूँ नर निधड़क फिरै, त्यूँ त्यूँ काल हसंत ॥४६॥
हरि-जन सेती रूसणा, संसारी सूँ हेत।
ते नर कदे न नीपजै, ज्यूँ कालर का खेत ॥४७॥
वाग विछूटौ मिरगलौ, तिहिं जिनि मारै कोइ।
आपैं ही मरि जावसी डावाँडोलाँ होइ ॥४८॥
सेमर सुअना सेइया, दुइ ढेंढी की आस।
ढेंढी फूटि चटाक दै, सुअना चला निरास ॥४९॥
राम बुलावा भेजिया, दिया कबीरा रोइ।
जौ सुख साधू-संग मैं, सो बैकुंठ न होइ ॥५०॥

पाहन पूजैं हरि मिलैं, तौ मैं पूजौं पहार।
तातैं यह चाकी भली, पीसि खाइ संसार ॥५१॥
काँकर-पाथर जोरि कै मसजिद लई चुनाइ।
ता चढ़ि मुल्ला बाँग दै, बहरा हुआ खुदाइ ? ॥५२॥
तीरथ चाले दुइ जना, चित चंचल, मन चोर।
एकौ पाप न ऊतरया, दस मन लाया और ॥५३॥
कबीर, ऐसा बीज बो, बारह मास फलंत।
सीतल छाया, गहर फल, पंखी केल करंत ॥५४॥

सबद

(१)

भजु मन जीवन नाम सबेरा।
सुंदर देह देखि जिन भूलो, झपट लेत जस बाज बटेरा।
या देही को गरब न कीजै, उड़ पंछी जस लेत बसेरा॥
या नगरी में रहन न पैहो, कोइ रहि जाग न दूख घनेरा।
कहै कबीर, सुनो भई साधो, मानुख-जनम न पैहौ फेरा॥

(२)

साधो, सो सतगुरु मोहिँ भावै।
सत्त-नाम का भर-भर प्याला आप पिवै, मोहि प्यावै॥
मेले जाय न महँत कहावै, पूजा भेँट न लावै।
परदा दूर करै आँखिन का, निज दरसन दिखलावै॥

जाके दरसन साहब दरसैं, अनहद सबद सुनावै ।
माया के सुख दुख करि मानै, संग न सुपन चलावै ॥
निस-दिन सतसंगति में राचै, सबद में सुरत समावै ।
कह कबीर, ताको भय नाहीं, निरभय पद परसावै ॥

(३)

अवधू भूले को घर लावै, सो जन हमको भावै ॥
घर में भोग, जोग घर ही में, घर तजि बन नहिं जावै ।
बन के गए कलपना उपजै, तब धौं कहाँ समावै ?
घर में भुक्ति, मुक्ति घर ही में, जो गुरु अलख लखावै ।
सहज सुन्न में रहै समाना, सहज समाधि लगावै ॥
घर में बस्तु, बस्तु में घर है, घर ही बस्तु मिलावै ।
कहै कबीर, सुनो हो अवधू, ज्यौं का त्यौं ठहरावै ॥

(४)

जागु, पियारी, अब का सोवै ? रैन गई, दिन काहे को खोवै ?
जिन जागा तिन मानिक पाया । तैं बौरी सब सोइ गँवाया ॥
पिय तेरे चतुर, मूरख तूँ नारी । कबहुँ न पिय की सेज सँवारी ॥
तैं बौरी बौरापन कीन्हो । भर जोबन पिय अपन न चीन्हो ॥
जागु, देख, पिय सेज न तोरे । तोहि छाँड़ि उठ गए सबेरे ॥
कह कबीर, सोई धुन जागै । सबद-बान उर-अंतर लागै ॥

(५)

समझ देखु, मन मीत पियरवा, आसिक होकर सोना क्या रे ॥
रूखा-सूखा गम का टुकड़ा फीका और सलोना क्या रे ।

पाया हो तो दे ले, प्यारे, पाय पाय फिर खोना क्या रे ॥
जिन आँखिन में नींद घनेरी, तकिया और बिछौना क्या रे।
कहै कबीर, सुनो भाई साधो, सीस दिया तब रोना क्या रे ॥

(६)

पी ले प्याला, हो मतवाला, प्याला नाम-अमी-रस का रे ।
बालपना सब खेलि गँवाया, तरुन भया नारी-बस का रे ॥
बिरध भया कफ-बाय ने घेरा, खाट पड़ा जाय न खसका रे ।
नाभि कँवल बिच है कस्तूरी जैसे मिरग फिरै बन का रे ॥
बिन सतगुरु इतना दुख पाया, बैद मिला नहिं इस तन का रे ।
मात पिता बंधव सुत तिरिया, संग नहीं कोई जाय सका रे ॥
जब लग जीवै गुरु-गुन गा ले, धन-जोबन है दिन दस का रे ।
चौरासी जो उबरा चाहै, छोड़ कामिनी का चसका रे ।
कहै कबीर सुनो भाई साधो, नख-सिख पूर रहा बिस का रे ॥

(७)

पानी बिच मीन पियासी । मोहिं सुन सुन आवत हाँसी ॥
आतम-ग्यान बिना सब सूना, क्या मथुरा क्या कासी ?
घर में बस्तु धरी नहिं सूझै, बाहर खोजन जासी ॥
मृग की नाभि माहिं कस्तूरी, बन बन खोजन जासी ।
कहै कबीर, सुनो भाई साधो, सहज मिलै अविनासी ॥

(८)

गगन घटा गहरानी, साधो, गगन घटा गहरानी ।
पूरब दिसि तें उठी बदरिया, रिमझिम बरसत पानी ।

आपन आपन मेंड़ सम्हारो, बह्यो जात यह पानी ॥
मन के बैल, सुरत हरवाहा, जोत खेत निरबानी ।
दुबिधा दूब छोल करु बाहर, बोइ नाम की धानी ॥
जोग-जुगुति करि करु रखवारी, चर न जाइ मृग धानी ।
बाली झारि कूटि घर लावै, सोई कुसल किसानी ॥
पाँच सखी मिलि कीन्ह रसोई, एक ते एक सयानी ।
दूनो थार बराबर परसै, जेवैं मुनि अरु ग्यानी ॥

(९)

रस गगन-गुफा में अजर झरै ।
बिन बाजा झनकार उठै जहँ, समुझि परै तब ध्यान धरै ॥
बिना ताल जहँ कँवल फुलाने, तेहि चढ़ि हंसा केल करै ।
बिन चंदा उजियारी दरसै, जहँ तहँ हंसा नजर परै ॥
दसवें द्वारे ताली लागी, अलख पुरुख जाको ध्यान धरै ।
काल कराल निकट नहिं आवै, काम क्रोध मद लोभ जरै ॥
जुगन जुगन की तृखा बुझानी, करम भरम अघ व्याधि टरै ।
कहै कबीर, सुनो भई साधो, अमर होइ, कबहूँ न मरै ॥

(१०)

बाल्हा आव हमारे गेह रे । तुम बिन दुखिया देह रे ॥
सब को कहै तुम्हारी नारी, मोकौं इहै अँदेह रे ।
एकमेक ह्वै सेज न सोवै, तब लग कैसो नेह रे ॥
अन्न न भावै, नींद न आवै, गृह-बन धरै न धीर रे ।
ज्यूँ कामी कौं काम पियारा, ज्यूँ प्यासे कूँ नीर रे ॥

है कोइ ऐसा पर-उपकारी, हरि सूँ कहै सुनाइ रे।
ऐसे हाल कबीर भए हैं, बिन देखे जिव जाइ रे॥

(११)

चल चल, रे भौंरा, कँवल पास।
तेरी भौंरी बोलै अति उदास॥
वह करत चोज बार ही बार।
तन बन फूल्यौ कस डार डार॥
है लियो बनसपति केर भोग।
कुछ सुख न भयो, तन बढ़्यो रोग॥
दिवस चार के सुरँग फूल।
तेहि लखि भौंरा रह्यो भूल॥
बनसपति जब लागै आगि।
तब, भँवरा, कहँ जैहो भागि?
पुहुप पुराने गए सूख।
लगी भँवर को अधिक भूख॥
उड़ न सकत, बल गयो छूट।
तब भँवरा रोवै सीस कूट॥
चहुँ दिसि चितवै मुँह पराइ।
ले चल भँवरी सिर चढ़ाइ॥
कहै कबीर, ये मन के भाव।
नाम बिना सब जम के दाँव॥

(१२)

झीनी झीनी बीनी चदरिया ।

काहे का ताना, काहे का बाना, कौन तार से बीनी चदरिया ?
इँगला-पिँगला ताना-बाना, सुखमन तार से बीनी चदरिया ॥
आठ कँवल, दस चरखा डोलै, पाँच तत्त, गुन तीनो, चदरिया ।
साँई को सियत मास दस लागे, ठोक ठोक के बीनी चदरिया ॥
सो चादर सुर नर मुनि ओढ़ी, ओढ़ि के मैली कीनी चदरिया ।
दास कबीर जतन से ओढ़ो, ज्यों की त्यों धरि दीनी चदरिया ॥

---

२. सूरदास

पूर्व मध्यकाल—भक्ति-युग (सगुण धारा)

सूरदास का जन्म रुनकता नामक गाँव में, जो आगरा से मथुरा जानेवाली सड़क पर स्थित है, संवत् १५४० के लगभग हुआ था। उनका देहांत संवत् १६२० के लगभग हुआ था। वे सारस्वत ब्राह्मण बताए जाते हैं। उनके पिता का नाम रामदास था। कुछ विद्वानों का मत है कि सूरदास पृथ्वीराज-रासो के रचयिता महाकवि चंद-बरदाई के वंशज थे और उनके पिता का नाम हरीचंद था। वे अंधे थे पर जन्मांध थे या बाद में अंधे हुए इस पर विद्वानों में मत-भेद है। संभवत: वे जन्मांध न थे। वे श्रीकृष्णचंद्र की लीला-भूमि में अपना आश्रम बनाकर रहते थे। एक समय महाप्रभु वल्लभाचार्य वहाँ पधारे। उन्होंने प्रसन्न होकर सूर को अपना शिष्य बना लिया। आचार्यजी के उपदेश से उनके हृदय में कृष्ण-भक्ति का उद्रेक हुआ और सुप्त प्रतिभा एकाएक जागरित हो उठी। बाह्य दृष्टि बंद थी पर अंतर्दृष्टि खुल गई थी। महाप्रभुजी से भागवत की कथा को सुनकर उन्हीं प्रसंगों के अनुसार वे पद कहते थे। उनका सुप्रसिद्ध ग्रंथ सूर-सागर इन्हीं पदों का संग्रह है।

महाप्रभुजी के पुत्र एवं उत्तराधिकारी गोस्वामी विट्ठलनाथ ने अपने पिता के एवं अपने चुने हुए आठ शिष्यों की एक अष्टछाप नाम की मंडली स्थापित की। अष्टछाप के आठ महात्माओं के नाम ये हैं—सूरदास, कुंभनदास, परमानंददास, कृष्णदास, छीतस्वामी, गोविंददास, चतुर्भुजदास और नंददास। ये सभी उच्च कोटि के कवि हुए हैं। सूरदास इन सबमें अग्रगण्य हैं।

सूरदास गोस्वामी तुलसीदास को छोड़कर सबसे श्रेष्ठ माने जाते हैं। शुद्ध काव्य-दृष्टि से देखा जाय तो उनका स्थान गोस्वामीजी से किसी प्रकार कम नहीं किंतु बढ़कर ही जान पड़ता है। अवश्य ही उनकी कविता का प्रभाव उतना व्यापक नहीं है जितना कि तुलसी का। तुलसीदास का काव्यक्षेत्र विस्तृत है। जीवन की नाना परिस्थितियों का चित्रण उन्होंने किया है। इसके साथ ही लोक-संग्रह का ध्यान भी उन्होंने सर्वत्र रखा है। सूर की दृष्टि लोक-संग्रह पर नहीं है। वे आत्मानंदी हैं। उनका काव्य-क्षेत्र शृंगार और वात्सल्य तक ही परिमित है पर अपने क्षेत्र के वे एकच्छत्र सम्राट् हैं। शृंगार और वात्सल्य के वर्णन में कोई दूसरा कवि उन्हें नहीं पाता। उनकी कविता का मुख्य विषय श्रीकृष्ण की लीला है। बाल-लीला, राधा-कृष्ण-प्रेम और गोपी-विरह का वर्णन उन्होंने खूब विस्तार के साथ किया है। इन विषयों की छोटी से छोटी बात भी उनकी पैनी दृष्टि से नहीं बचने

पाई है। बालकों की विविध चेष्टाओं, उनके नाना मनोभावों और कार्यों का चित्रण बड़ा ही स्वाभाविक हुआ है।

विरह-वर्णन में जितनी मानसिक वृत्तियों और दशाओं का प्रत्यक्षीकरण सूर ने किया है उतना कोई हिंदी-कवि नहीं कर सका है। उसमें वर्णन की स्वाभाविकता और सरसता सर्वत्र कूट-कूटकर भरी गई है। सूर ने तुलसी की विनय-पत्रिका के ढंग के विनय के भी बहुत से पद लिखे हैं जिनमें अपनी दीनता, सांसारिक वैभव की अस्थिरता आदि विषयों का भावपूर्ण वर्णन है। उनकी कविता के विषय में नीचे लिखे दोहे बहुत प्रसिद्ध हैं—

सूर सूर, तुलसी ससी, उडुगन केसवदास।
अब के कवि खद्योत सम, जहँ-तहँ करहिँ प्रकास॥
तत्त्व तत्त्व सूरा कही, तुलसी कही अनूठ।
बची-खुची कबिरा कही, और कही सब झूठ॥
किधौँ सूर को सर लग्यो, किधौँ सूर की पीर।
किधौँ सूर को पद लग्यो, बेध्यो सकल सरीर॥
उत्तम पद कवि गंग के, कवितनि को बलबीर।
केसव अर्थ गँभीर को, सूर तीन गुन धीर॥

सूरदास की कविता की भाषा व्रज है। वह मधुर, स्वाभाविक और संगीत-मय है। कहीं कहीं व्याकरण-विरोध और क्लिष्टता आदि दोष आ गए हैं पर जो अंश भावावेश-पूर्ण हैं उनकी भाषा सुसंगठित, सुबोध और चलती हुई है। स्थान

स्थान पर, विशेषतः रूप-वर्णन में अलंकारों का प्रचुरता से प्रयोग हुआ है। सूरसागर व्रजभाषा की सर्व-प्रथम साहित्यिक रचना है फिर भी उसकी भाषा में अपूर्व प्रौढ़ता है।

सूरदास की मुख्य रचना सूरसागर है। यह विविध राग-रागिनियों के पदों अथवा भजनों में लिखा गया है। कहते हैं कि इसमें सवा लाख पद थे पर अब छः-सात हजार से अधिक नहीं मिलते। भागवत की भाँति यह भी स्कंधों में विभक्त है पर यह भागवत का अनुवाद नहीं है। सूर के भजनों का जनता में खूब प्रचार है। घर घर उनके भजन गाए जाते हैं। जिन प्रांतों की मातृभाषा हिंदी नहीं है वहाँ के गायक-समाज में भी उनका प्रचार है।

उनकी अन्य रचनाएँ सूर-सारावली और साहित्य-लहरी हैं जो सूरसागर से ही संकलित की गई हैं।

विनय के पद

(१)

अब मोहि भीजत क्यों न उबारो ?
दीनबंधु करुनामय स्वामी, जन के दुःख निवारो॥
ममता घटा, मोह की बूँदें, सलिता मैन अपारो।
बूड़त कतहुँ थाह नहिँ पावत, गुरु-जन-ओट-अधारो॥
गरजनि क्रोध, लोभ को नारो, सूझत कहुँ न उधारो।
तृसना-तड़ित चमक छन ही छन, अहनिसि यह तन जारो॥

यह सब जल कलि-मलहि गहे है, बोरत सहस प्रकारो ।
सूरदास, पतितन को संगी बिरदहि, नाथ, सँभारो ॥

(२)

चकई री, चलि चरन-सरोवर, जहाँ न प्रेम-बियोग ।
निसि-दिन राम राम की वर्षा, भय-रुज-दुख नहिँ सोग ॥
जहाँ सनक से मीन, हंस सिव, नख-रवि-प्रभा प्रकास ।
प्रफुलित कमल, निमिख नहिँ ससि डर, गुंजत निगम सुबास ॥
जेहि सर सुभग मुगति मुगताफल, सुकृत अमृत रस पीजै ।
सो सर छाँड़ि, कुबुद्धि बिहंगम, इहाँ कहा रहि कीजै ? ॥
लछमी सहित होत नित क्रीड़ा, सोभित सूर जु दास ।
अब न सुहात बिषय-रस छीलर वा समुद्र की आस ॥

(३)

अपुनपौ आपुन ही बिसर्‍यो ।
जैसे स्वान काच-मंदिर में भ्रमि भ्रमि भूँकि पर्‍यो ॥
हरि-सौरभ मृग-नाभि बसत है, द्रुम-तृन सूँघि मर्‍यो ।
ज्योँ केहरि प्रतिबिंब देखिकै आपुन कूप पर्‍यो ॥
जैसे गज लखि फटिक-सिला में दसननि जाइ अर्‍यो ।
मरकट मूठि छाँड़ि नहिँ दीन्ही, घर घर द्वार फिर्‍यो ॥
सूरदास, नलिनी को सुवटा कहि कौने जकर्‍यो ?

(४)

हृदय की कबहुँ न जरनि घटी ।
बिनु गोपाल बिथा या तन की कैसे जात कटी ? ॥

अपनी रुचि जित, ही तित खैंचति इंद्रिय ग्राम-गटी।
होति तहाँ उठि चलत कपट लगि बाँधे नयन पटी॥
झूठो मन, झूठी यह काया, झूठी आरभटी।
अरु झूठनि के बदन निहारत मारत फिरत लटी॥
दिन दिन हीन छीन भइ काया दुख-जंजाल-जटी।
चिंता गइ, औ भूख भुलानी, नींद फिरत उचटी॥
मगन भयो माया-रस लंपट, समुझत नाहिँ हटी।
तापै मूँड़ चढ़ी नाचति है मीचति नीच नटी॥
खैंचत स्वाद स्वान पातर ज्यौं चातक रटत ठटी।
सूर, जलधि सीँचै करुनानिधि निज जन जरनि मिटी॥

(५)

जा दिन मन-पंछी उड़ि जैहै।
ता दिन तेरे तन-तरुवर के सबै पात झरि जैहैं॥
घर के कहैँ बेगि ही काढ़ो, भूत भए कोउ खैहै।
जा प्रीतम सौं प्रीति घनेरी, सोऊ देखि डरैहै॥
कहँ वह ताल, कहाँ वह सोभा, देखत धूरि उड़ैहै।
भाई-बंधु अरु कुटुँब-कबीला सुमिरि सुमिरि पछितैहै॥
बिनु गोपाल कोउ नहिँ अपुनो, जस-अपजस रहि जैहै।
सो, सूर, जु दुरलभ देवन को, सतसंगति में पैहै॥

(६)

जा दिन संत पाहुने आवत।
तीरथ कोटि अन्हान करे फल जैसो दरसन पावत॥

नेह नयो दिन दिन प्रति उनसों, चरन-कमल चित लावत ।
मन-बच-क्रम औरन नहिँ जानत, सुमिरत औ सुमिरावत ।।
मिथ्यावाद-उपाधि-रहित ह्वै बिमल बिमल जस गावत ।
बंधन करम कठिन जे पहिले सोऊ काटि बहावत ।।
संगति रहै साधु की अनुदिन, भव-दुख दूरि नसावत ।
सूरदास या जनम-मरन तेँ तुरत परम-गति पावत ।।

बालकृष्ण

(१)

जसुमति मन अभिलाख करै ।
कब मेरो लाल घुटुरुवन रेँगै, कब धरनी पग द्वैक धरै ?
कब द्वै दंत दूध के देखौँ, कब तुतरे मुख बैन भरै ?
कब नंदहि कहि बाबा बोलै, कब जननी कहि मोहि ररै ?
कब मेरो अँचरा गहि मोहन, जोइ-सोइ कहि मोसोँ झगरै ?
कब धौँ तनक तनक कछु खैहै, अपने कर सोँ मुखहि भरै ?
कब हँसि बात कहैगो मोसोँ, छबि पेखत दुख दूरि टरै ?

(२)

किलकत कान्ह घुटुरुवनि आवत ।
मनिमय कनक नंद के आँगन मुख-प्रतिबिंब पकरिबे धावत ।।
कबहुँ निरखि हरि आप छाँहि को पकरन को चित चाहत ।
किलकि हँसत, राजत द्वै दँतियाँ, पुनि पुनि तिहि अवगाहत ।।
कनक-भूमि पर कर-पग-छाया, यह उपमा एक राजत ।
प्रति-कर प्रति-पद प्रतिमनि बसुधा कमल-बैठकी साजत ।।

बाल-दसा-सुख निरखि जसोदा पुनि पुनि नंद बुलावत।
अँचरा तर लै ढाँकि, सूर, प्रभु जननी दूध पियावत॥

(३)

सिखवति चलन जसोदा मैया।
अरबराइ कर पानि गहावत, डगमगाइ धरनो धरै पैया॥
कबहुँक सुंदर बदन बिलोकत, उर आनँद भरि लेत बलैया।
कबहुँक बल को टेरि बुलावति, इहिँ आँगन खेलो दोउ भैया॥
कबहुँक कुल-देवता मनावति, चिरजीवौ मेरो बाल कन्हैया।
सूरदास, प्रभु सब सुख-दायक अति प्रताप बालक नँदरैया॥

(४)

हरि अपने आगे कछु गावत।
तनक तनक चरनन सों नाचत, मनहीँ मनहिँ रिझावत॥
बाँह उँचाइ काजरी-धौरी गैयन टेरि बुलावत।
कबहुँक बाबा नंद बुलावत, कबहुँक घर मेँ आवत॥
माखन तनक आपने कर लै तनक बदन मेँ नावत।
कबहुँ चितै प्रतिबिंब खंभ मेँ, लवनी लिए खवावत॥
दुरि देखति जसुमति यह लीला, हरख अनंद बढ़ावत।
सूर, स्याम के बाल-चरित ये नित देखत मन भावत॥

(५)

खेलत मेँ को काको गुसैयाँ ?
हरि हारे, जीते श्रीदामा, बरबस ही कत करत रिसैयाँ ?
जाति-पाँति हमतेँ कछु नाहिँ, न बसत तुम्हारी छैयाँ॥

अति अधिकार जनावत यातैं, अधिक तुम्हारे हैं कछु गैयाँ।
रूठहि करै तासौं को खेलै ?, रहे पौढ़ि जहँ तहँ सब ग्वैयाँ ॥

(६)

सखा कहत हैं, स्याम खिसाने।
आपुहि आपु ललकि भए ठाढ़े, अब तुम कहा रिसाने ?
बीचहि बोलि उठे हलधर तब, इनके माइ न बाप।
हार-जीत कछु नेकु न जानत, लरिकन लावत पाप ॥
आपु न हारि सखा सौं झगरत, यह कहि दिये पठाई।
सूर, स्याम उठि चले रोइकै, जननी पूछति धाई ॥

(७)

खेलन अब मेरी जात बलैया।
जबहिं मोहि लरिकन सँग देखत, तबहिं खिझत बल-भैया ॥
मोसौं कहत पूत बसुदेव को, देवकि तेरी मैया।
मोलि लियो कछु दै बसुदेव को, करि करि जतन बढ़ैया ॥
अब बाबा कहि कहत नंद सौं, जसुमति सौं कहै मैया।
ऐसे कहि सब मोहि खिझावत, तब उठि चलौं खिसैया ॥
पाछे नंद सुनत हैं ठाढ़े, हँसत हँसत उर लैया।
सूर, नंद बलरामहि धिरयो, सुनि मन हरख कन्हैया ॥

(८)

द्वारे टेरत हैं सब ग्वाल,—कन्हैया, आवहु, बार भई।
आवहु बेगि, बिलम जनि लावहु, गैयाँ दूरि गईं ॥

इहि सुनतहि दोऊ उठि धाए, कछु अँचयौ कछु नाहीँ ।
कितिक दूर सुरभी तुम छाँड़ी, बन तौ पहुँची आहीँ ?
ग्वाल कह्यो, कछु पहुँची ह्वैहैँ, कछु मिलिहैँ मग माहीँ ।
सूर, स्याम बल मोहन भैया गैयन पूछत जाहीँ ॥

(९)

बूझत स्याम, कौन तू गोरी ?
कहाँ रहति, काकी है बेटी, देखा नाहिं कहूँ ब्रज-खोरी ?
काहे को हम ब्रज-तन आवति, खेलति रहति आपनी पोरी ।
सुनति रहति स्रवननि नँद-ढोटा करत रहत दधि-माखन चोरी॥
तुम्हरो कहा चोरि हम लैहैँ, खेलन चलो संग मिलि जोरी ।
सूरदास, प्रभु रसिक-सिरोमनि बातनि भुरई राधिका भोरी ॥

(१०)

खेलन के मिस कुँवरि राधिका नंद-महर के आई हो ।
सकुच सहित मधुरे करि बोली,—घर हौ, कुँवर कन्हाई हो ?
सुनत स्याम कोकिल सम बानी निकसे अति अतुराई हो ।
माता सोँ कछु करत कलह हरि, सो डारी बिसराई हो ॥
मैया री, तू इनको चीन्हति, बारंबार बताई हो ।
जमुना-तीर काल्हि मैँ भूल्यो, बाँह पकरि लै आई हो ॥
आवत यहाँ तोहि सकुचति है, मैँ दै सौँह बुलाई हो ।
सूर, स्याम ऐसे गुन-आगर, नागरि बहुत रिझाई हो ॥

(११)

बूझति जननि,—कहाँ हुती प्यारी ?
किन तेरे भाल तिलक रचि कीन्हो, केहि कच गूँथि माँग सिर पारी ?
खेलत रही नंद के आँगन, जसुमति कही,–कुँवरि, ह्याँ आ री ।
तिल-चावरी गोद करि दीन्ही, फरिया दई फारि नव सारी ॥
मेरो नाउँ बूझि, बाबा को तेरो बूझि, दई हँसि गारी ।
मो तन चितै, चितै ढोटा-तन, कछु सविता सोँ गोद पसारी ॥
यह सुनि कै बृखभानु मुदित चित, हँसि हँसि बूझति बात दुलारी ।
सूरदास सुनत रस-सिंधु बढ़्यो अति दंपति मन में यहै विचारी ॥

(१२)

करि ल्यौ, हरि, न्यारी आपनी गैयाँ ।
नहिँन बसात, लाल, कछु तुम सों, सबै ग्वाल इक ठैयाँ ॥
नहिँन अधिक तेरे बाबा के, नहिँ तुम हमरे नाथ-गुसैयाँ ।
हम-तुम जाति पाँति के एकै, कहा भयो अधिकी द्वै गैयाँ ?
जा दिन ते सबरे गोपन में, ता दिन ते करत लँगरैयाँ ।
मानी हार सूर के प्रभु सोँ, बहुरि न करिहौ नंद-दुहैयाँ ॥

(१३)

चोरी करत कान्ह धरि पाए ।
निसि-बासर मोहि बहुत सतायो, अब हरि हाथहि आए ॥
माखन-दधि मेरो सब खायो, बहुत अचगरी कीन्ही ।
अब तौ आइ परे हौ, लालन, तुम्हैं भले मैं चीन्ही ॥

दोउ भुज पकरि कह्यौ,—कित जैहौ, माखन लेउँ मँगाइ।
तेरी सौं, मैं नैकु न खायो, सखा गए सब खाइ॥
मुख तन चितै, बिहँसि, हँसि दीन्हो, रिस तब गई बुझाइ।
लियो उर लाइ ग्वालिनी हरि को, सूरदास बलि जाइ॥

(१४)

आपनो गाँउ लेहु, नँदरानी।
बड़े बाप की बेटी तातें, पूतहि भले पढ़ावति बानी॥
सखा-भीर लै पैठत घर में, आपु खाइ तौ सहिए।
मैं जब चली साँमुहे पकरन, तबके गुन कहा कहिए॥
भाजि गए दुरि देखत कतहूँ, मैं घर पौढ़ी आई।
हरे हरे बेनी गहि पाछे बाँधी पाटी लाई॥
सुनु मैया, याके गुन मोसौं, इन मोहि लियो बुलाई।
दधि में परी सेंत की चींटी मो पै सबै कढ़ाई॥
टहल करत याके घर की मैं, यह पति सँग मिलि सोई।
सूर, बचन सुनि हँसी जसोदा, ग्वालि रही मुख गोई॥

(१५)

मोसौं बात सुनहु ब्रज-नारी।
यह उपखान चलत त्रिभुवन में, तुम सौं आजु उघारी॥
'कबहूँ बालक मुँह न दीजिए, मुँह न दीजिए नारी।
जोइ मन करै सोइ करि डारै, मूँड़ चढ़त है भारी'॥
बात कहत अठिलाति जाति सब, हँसत देति कर तारी।
सूर, कहा ए हमकौं जानैं छाछहि बेचनहारी?

(१६)

बादर घुमड़ि घुमड़ि आए ब्रज पर ।
बरखत कारे-धूमरे घटा अति हीं जल ॥
चपला अति चमचमाति, ब्रज-जन सब डर डरात ।
टेरत सिसु पिता-मात, ब्रज गलबल ॥
गरजत धुनि प्रलयकाल, गोकुल भयो अंधकार ।
चक्रित भए ग्वाल-बाल, घहरत नभ, करत चहल ॥
पूजा मेटि गोपाल, इंद्र करत इहै हाल ।
सूर, स्याम, राखहु अब गिरिवर-बल ॥

(१७)

ब्रज के लोग फिरत बितताने ।
गैयन लै बन ग्वाल गए, ते धाए आवत ब्रजहि पराने ॥
कोउ चितवत नभ-तन चक्रित ह्वै, कोउ गिरि परत धरनि अकुलाने ।
कोउ लै ओट रहत बृच्छन की, अंधधुंध दिसि-बिदिसि भुलाने ॥
कोउ पहुँचे जैसे-तैसे गृह, कोउ ढूँढ़त गृह नहिँ पहिचाने ।
सूरदास, गोवर्धन-पूजा कीने कर फल लेहु बिहाने ॥

(१७)

बरखत मेघवर्त्त धरनी पर ।
मूसलधार सलिल बरखतु है, बूँद न आवत भू पर ॥
चपला चमकि चमकि चक-चौंधति, करति सबद-आघात ।
अंधाधुंध पवनवर्त्तक घन करत फिरत उतपात ॥

निसि सम गगन भयो आच्छादित, बरखि बरखि झर इंद ।
सूरदास, ब्रज राखि लियो धरि कर गिरिवर गोबिंद ॥

(१८)

झहरात भहरात दवानल आयो ।
घेरि चहुँ ओर, करि सोर अंधेर,
बन-धरनि-अकास चहूँ पास छायो ॥
बरत बन-बाँस, थरहरत कुस-काँस,
जरि उड़त बहु भाँस, अति प्रबल धायो ।
लपटि झपटत लपट, पटकि फूल फूटत,
फटि चटकि लट लटकि द्रुम नवायो ॥
अति अगिनि झार भार धुंधार करि
उचटि अंगार झंझार छायो ।
बरत बन पात भहरात झहरात
अररात तरु महा धरनी गिरायो ॥
भए बेहाल सब ग्वाल-ब्रजबाल,
तब 'सरन गोपाल' कहिकै पुकार्‌यो ।
मूठि भरि लियो, सब नाइ मुख ही दियो,
सूर, प्रभु पियो, ब्रज-जन बचायो ॥

यशोदा-विलाप

(१)

मेरो, माई, निधनी को धन माधो ।
बारंबार निरखि सुख मानत, तजत नहीं पल आधो ॥

छिन छिन परसत, अंग मिलावत, प्रेम प्रगट ह्वै लाधो।
निस-दिन चंद्र चकोर की छबि, मिटै न दरस की साधो ॥
करिहै कहा अक्रूर हमारो, दैहै प्राण अगाधो।
सूर, स्यामघन हौँ नहिँ पठवौँ, अबहि कंस किन बाँधो ॥

(२)

नंद, हरि तुमसौँ कहा कह्यौ ?
सुनि सुनि निठुर बचन मोहन के क्योँकरि हृदय रह्यौ ?
छाँड़ि सनेह चले मंदिर कत, दौरि न चरन गह्यौ ?
फाटि न गई बजर की छाती, कत यहि सूल सह्यौ ?
सुरति करत मोहन की बातैँ, नैनन नीर बह्यौ।
सुधि न रही, अति गलित गात भयो, जनु डसि गयो अह्यौ ?
कृष्ण छाँड़ि गोकुल कत आए चाखन दूध दह्यौ ?
तजे न प्रान, सूर, दसरथ लौँ, हुतौ जनम निबह्यौ ॥

(३)

नंद, ब्रज लीजै ठोँकि बजाइ।
देहु बिदा, मिलि जाहिँ मधुपुरी, जहँ गोकुल के राइ।
नैनन पंथ गयो क्योँ सूझ्यो उलटि दियो जब पाइ ॥
भूमि मसान बिदित ए गोकुल, मनहु धाइ धाइ खाइ।
सूरदास, प्रभु पास जाहिँ हम, देखैँ रूप अघाइ ॥

(४)

सँदेसो देवकी सोँ कहियो।
हौँ तो धाइ तिहारे सुत की, मया करति ही रहियो ॥

जदपि टेव तुम जानत उनकी, तऊ मोहि कहि आवै।
प्रातहि उठत तिहारे कान्ह को माखन-रोटी भावै॥
तेल, उबटनो अरु तातो जल, ताहि देखि भजि जाते।
जोइ जोइ माँगत सोइ सोइ देती, करम करम करि न्हाते॥
सूर, पथिक सुनि, मोहि रैन-दिन बढ़्यो रहत उर सोच।
मेरो अलक-लड़ैतो मोहन ह्वैहै करत सँकोच॥

(५)

मना, हौं ऐसे ही मरि जैहौं।
इहि आँगन गोपाललाल को कबहुँक कनियाँ लैहौं?
कब वह मुख बहुरौ देखौंगी, कब वैसो सचुपैहौं?
कब मोपै माखन माँगैंगे, कब रोटी धरि दैहौं॥
मिलन-आस तन प्रान रहत हैं, दिन दस मारग चैहौं।
जो न, सूर, कान्ह आइहै तो जाइ जमुन धँसि जैहौं॥

(६)

कह्यौ कान्ह, सुनि जसुमति मैया।
आवहिंगे दिन चारि-पाँच में हम हलधर दोउ भैया॥
मुरली बेंत बिखान देखियो सींगी बेर-सबेरो।
लै जिनि जाइ चुराइ राधिका कछुक खिलौना मेरो॥
जा दिन तें तुमसों बिछुरे हम, कोउ न कहत कन्हैया।
भोरहि नाहिँ कलेऊ कीन्हो, साँझ न पय पियो धैया॥
कहत न बन्यो सँदेसो मोपै—जननि जितो दुख पायो।
अब हमसों बसुदेव-देवकी कहत आपनो जायो॥

कहिए कहा नंद-बाबा सों, बहुत निठुर मन कीन्हो।
सूर, हमहिँ पहुँचाइ मधुपुरी बहुरौ सोध न लीन्हो॥

(७)

ऊधो, इतनी कहियो जाइ।
अति कृस-गात भईं हैं तुम बिन परम दुखारी गाइ॥
जल-समूह बरसतिँ दोउ आँखें, हूँकतिँ लीन्हे नाँव।
जहाँ जहाँ गो-दोहन कीन्हो, सूँघत सोई ठाँव॥
परतिँ पछार खाइ छिन ही छिन अति आतुर ह्वै दीन।
मानहु, सूर, काढ़ि डारी हैं बारि-मध्य तें मीन॥

गोपी-विरह

(१)

बिछुरे श्रीब्रजराज आज इन नैनन की परतीति गई।
उड़ि न लगे हरि संग बिहंगम, ह्वै न गए सखि स्याम-मई॥
रूप-रसिक लालची कहावत, सो करनी कछु तौ न भई।
साँचेहु कूर, कुटिल, सित, मेचक, बृथा मीन-छबि छीनि लई॥
अब काहे सोचत, मोचत जल, समय गए चित सूल नई।
सूरदास, याही तें जड़ भए जब पलकनि हठि दगा दई॥

(२)

इहिँ बिरियाँ बन तें आवते।
दूरहि ते वह बेनु अधर धरि बारंबार बजावते॥
कबहुँक काहू भाँति चतुर चित अति ऊँचे सुर गावते।
कबहुँक लै लै नाम मनोहर धौरी धेनु बुलावते॥

रुचि रुचि प्रेम-पियासे नैननि क्रम क्रम बलहिँ बढ़ावते।
सूरदास, स्वामी तिहि अवसर पुनि पुनि प्रगट करावते॥

(३)

हरि परदेस बहुत दिन लाए।
कारी घटा देखि बादर की नैन नीर भरि आए॥
पा लागौँ, तुम बीर बटाऊ, कौन देस तेँ धाए।
इतनी पतियाँ मेरी दीजो, जहाँ स्याम घन छाए॥
दादुर, मोर, पपीहा बोलत, सोवत मदन जगाए।
सूरदास, स्वामी जो बिछुरे प्रीतम भए पराए॥

(४)

देखो, माई, नैननि सोँ घन हारे।
बिनही रितु बरसत निसि-बासर, सदा सजल दोउ तारे॥
ऊरध-साँस समीर तेज अति, दुख अनेक द्रुम-डारे।
बदन-सदन करि बसे बचन-खग रितु पावस के मारे॥
ढरि ढरि बूँद परत कंचुकि पर मिलि अंजन सोँ कारे।
मानहु सिव की पर्नकुटी बिच धारा स्याम निनारे॥
सुमिरि सुमिरि गरजत निसि-बासर अस्रु-सलिल के धारे।
बूड़त ब्रजहि, सूर, को राखै बिनु गिरिवर-धर प्यारे ?

(५)

मेरे नैना बिरह की बेलि बई।
सीँचत नीर नैन के, सजनी, मूल पताल गई॥

बिगसति लता सुभाय आपने, छाया सघन भई।
अब कैसे निरुवारौं, सजनी, सब तन पसरि लई॥
को जानै काहू के जिय की छिन छिन होत नई।
सूरदास स्वामी के बिछुरे लागी प्रेम-झँई॥

(६)

बरु ए बदराहू बरसन आए।
अपनी अवधि जानि, नँदनंदन, गरजि गगन घन छाए॥
सुनियत हैं सुरलोक बसत, सखि, सेवक सदा पराए।
चातक-कुल की पीर जानिकै, तेउ तहाँ तें धाए॥
द्रुम किए हरित, हरखि बेली मिलि, दादुर मृतक जिवाए।
सूरदास, प्रभु रसिक-सिरोमनि मधुबन बसि बिसराए॥

(७)

हमारे, माई, मोरवा बैर परे।
घन गरजे, बरजे नहिं मानत, त्यों त्यों रटत खरे॥
करि इक ठौरि, बीन इनके पँख, मोहन सीस धरे।
याही तें हमही को मारत, हरि ही ढीठ करे॥
कहा जानिए, कौन गुन, सखि री, हमसों रहत अरे।
सूरदास, परदेस बसत हरि, ये बन तें न टरे॥

(८)

बहुत दिन जीवो पपीहा प्यारो।
बासर-रैनि नाँव लै बोलत, भयो बिरह-ज्वर कारो॥

आपु दुखित पर दुखित जानि जिय चातक नाँव तिहारो ।
देखो सकल बिचारि, सखी, जिय बिछुरन को दुख न्यारो ॥
जाहि लगै, सोई पै जानै प्रेम-बान अनियारो ।
सूरदास, प्रभु, स्वाति-बूँद लगि तज्यो सिंधु करि खारो ॥

(९)

मधुबन, तुम कत रहत हरे ?
बिरह बिजोग स्याम सुंदर के ठाढ़े क्यों न जरे ?
तुम हौ निलज, लाज नहिँ तुमको, फिर सिर पुहुप धरे ॥
ससा, स्यार औ बन के पखेरू, धिक धिक सबन करे ।
कौन काज ठाढ़े रहे बन मेँ, काहे न उकठि परे ?

(१०)

बिरही कहँ लौँ आपु सम्हारै ?
जब तेँ गंग परी हरिपद तेँ बहिबौ नाहिँ निवारै ॥
नयनन तेँ रवि बिछुरि भँवत रहै, ससि अजहूँ तन गारै ।
नाभि तेँ बिछुरे कमल कंट भए, सिंधु भए जरि छारै ॥
बैन तेँ बिछुरी बानि अबिधि भई, बिधि ही कौन निवारै ।
सूरदास, सब अँग तेँ बिछुरी केहि बिधा उपचारै ?

(११)

प्रीति करि काहू सुख न लह्यो ।
प्रीति पतंग करी दीपक सोँ, आपै प्रान दह्यो ॥
अलिसुत प्रीति करी जलसुत सोँ, संपुट माँझ गह्यो ।
सारँग प्रीति करी जु नाद सोँ, सनमुख बान सह्यो ॥

हम जो प्रीति करी माधो सोँ, चलत न कछू कह्यो ।
सूरदास, प्रभु बिनु दुख दूनो, नैननि नीर बह्यो ॥

भ्रमर-गीत

(१)

जोग-ठगौरी ब्रज न बिकैहै ।
यह ब्यौपार तिहारो, ऊधो, ऐसोई फिरि जैहै ॥
जापै लै आए हो, मधुकर, ताके उर न समैहै ।
दाख छाँड़िकै कटुक निँबौरी को अपने मुख खैहै ?
मूरी के पातन के केना को मुगताहल दैहै ?
सूरदास, प्रभु गुनहिँ छाँड़िकै को निरगुन निरबैहै ?

(२)

अँखियाँ हरि-दरसन की भूखी ।
कैसे रहैँ रूप-रस-राँची ये बतियाँ सुनि रूखी ?
अवधि गनत, इकटक मग जोवत, तब एती नहिँ झूँखीँ ।
अब इन जोग-सँदेसनि, ऊधो, अति अकुलानी दूखीँ ॥
बारक वहि मुख फेरि दिखावहु, दुहि पय पिवत पतूखी ।
सूर, सकति हठि नाव चलावौ, ए सरिता हैँ सूखी ॥

(३)

काहे को रोकत मारग सूधो ?
सुनहु, मधुप, निरगुन-कंटक तेँ राजपंथ क्यों रूँधो ?
कै तुम सिखै पठाए कुबजा, कै कही स्यामघनजू धौं ?
बेद, पुरान, सम्रिति सब ढूँढ़ो, जुवतिन जोग कहूँ धौं ?

ताको कहा परेखो कीजै, जानत छाछ न दूधो ?
सूर, मूर अक्रूर लै गए, ब्याज निबेरत ऊधो ॥

(४)

निर्गुन कौन देस को बासी ?
मधुकर, हँसि समुझाय, सौंह दै बूझति साँचु, न हाँसी ॥
को है जनक, जननि को कहियत, कौन नारि, को दासी ?
कैसो बरन, भेस है कैसो, केहि रस में अभिलासी ?
पावैगो पुनि कियो आपनो, जो, रे, कहैगो गाँसी ।
सुनत मौन ह्वै रह्यो ठग्यो सो, सूर, सबै मति नासी ॥

(५)

नाहिँन रह्यो मन में ठौर ।
नंदनंदन अछत कैसे आनियै उर और ?
चलत, चितवत, दिवस जागत, सपन सोवत राति ।
हृदय तें वह स्याम मूरति छन न इत-उत जाति ॥
कहत कथा अनेक ऊधो लोक-लाभ दिखाइ ।
कहा करौं, तन प्रेम पूरन, घट न सिंधु समाइ ॥
स्याम गात, सरोज आनन, ललित अति मृदु हास ।
सूर, ऐसे रूप कारन मरत लोचन प्यास ॥

(६)

सँदेसनि मधुबन-कूप भरे ।
जे कोऊ पथिक गए हैं ह्याँ तें, फिरि नहिँ अवन करे ॥

कै वै स्याम सिखाइ समोधे, कै वै बीच मरे।
अपने नहिँ पठवत नँदनंदन, हमरेउ फेरि धरे॥
मसि खूटी, कागद जल भीजे, सर दौ लागि जरे।
पाती, सूर, लिखैं कहो क्योंकर, पलक कपाट अरे?

(७)

ऊधो, जाहु तुम्हैं हम जाने।
स्याम तुम्हैं ह्याँ नाहिँ पठाए, तुम हौ बीच भुलाने॥
ब्रजबासिन सोँ जोग कहत हौ, बातहु कहत न जाने।
हमसोँ कही, लई सो सहिकै, जिय गुनि लेहु अपाने॥
साँच कहौ, तुमको अपनी सौँ, बूझति बात निदाने।
सूर, स्याम जब तुम्हैं पठाए तब नेकहुँ मुसुकाने?

(८)

ऊधो, सरद-समय हू आयो।
बहुतै दिवस रटत चातक तकि, तेउ स्वाति-जल पायो॥
कबहुँक ध्यान धरत उर अंतर, मुख मुरली लै गावत।
सो रस-रास पुलिन जमुना को ससि देखे सुधि आवत॥
जासोँ लगन प्रीति अंतरगत, औगुन गुन करि भावत।
हमसोँ कपट, लोक-डर तातेँ, सूर, सनेह जनावत॥

(९)

और सकल अंगन तेँ, ऊधो, अँखियाँ बहुत दुखारी॥
अति हा पिरातिँ, सिरातिँ न कबहूँ, बहुत जतन करि हारी।
इकटक रहतिँ, निमेख न लावतिँ, बिथा-बिकल भईँ भारी॥

भरि गईं बिरह-बाय बिनु दरसन, चितवत रहतिँ उघारी।
सूर, सु अंजन आनि रूप-रस आरति-हरन हमारी॥

(१०)

कहँ लौं कहियै ब्रज की बात ?
सुनहु, स्याम, तुम बिन लोगनि जैसे दिवस बिहात॥
गोपी-ग्वाल गाय-गोसुत सब मलिन-बदन कृस-गात।
परम दीन जनु सिसिर-हिमाहत अंबुज-गन बिनु पात॥
जो कोउ आवत, देखि दूर तेँ सब पूछत कुसलात।
चलन न देत, प्रेम आतुर उर, कर चरननि लपटात॥
पिक-चातक बन बसन न पावहिँ, बायस बलिहि न खात।
सूर, स्याम संदेसन के डर पथिक न उहि मग जात॥

---

३. मलिक मुहम्मद जायसी

पूर्व-माध्यमिक काल—भक्ति-युग (निर्गुण धारा)

मलिक मुहम्मद जायसी अवध-प्रांतांतर्गत जायस नामक स्थान के रहनेवाले थे जिससे वे जायसी कहलाए। उनका जन्म और मरण कब हुआ, इसका कुछ पता नहीं चलता। वे सुप्रसिद्ध सूफी फकीर शेख मुहीउद्दीन के शिष्य थे और संवत् १५९७ में शेरशाह बादशाह के राजत्वकाल में उन्होंने अपना प्रसिद्ध ग्रंथ पद्मावत बनाया था अत: उनका समय विक्रम की सोलहवीं शताब्दी का उत्तरार्ध निश्चित होता है। वे सूफी संप्रदाय के मुसलमान थे। कहते हैं कि उनके माता-पिता उनके बचपन में ही मर गए थे और वे अनाथ होकर फकीरों के साथ रहने लगे। उन्होंने साधु-सत्संग द्वारा अपने अनुभव को खूब बढ़ाया। वे सच्चे जिज्ञासु थे। प्रत्येक मत के संत-महात्माओं की संगति करते और उनकी बातें सुनते थे। वे स्वयं पहुँचे हुए फकीर थे। मुसलमान होते हुए भी उनमें धार्मिक कट्टरता न थी। अपनी रचना में उन्होंने हिंदू देवी-देवताओं के नाम श्रद्धा के साथ लिए हैं।

सीतला के प्रकोप से उनकी एक आँख जाती रही और वे एक कान से बहरे भी हो गए। एक बार अवध के

किसी राजा ने उनकी कुरूपता देखकर हँसी की जिस पर उन्होंने कहा—

मोहिँ का हँसेसि कि कोहरहिँ ?

अर्थात् मुझपर हँसे कि उस कुम्हार पर जिसने मुझे बनाया ? सुनकर वह राजा लज्जित हुआ और पहचानने पर क्षमा-प्रार्थना की।

जायसी का स्थान हिंदी-कवियों में बहुत ऊँचा है। वे भावुक संत थे और उनका हृदय कोमल भावों और प्रेम की पीर से भरा था। मुसलमान होकर भी उन्होंने हिंदी में रचना की यह उनकी विशाल-हृदयता और उस समय हिंदी की लोक-प्रियता का परिचायक है। हृदय के सुकुमार भावों का चित्रण करने में जायसी सिद्ध-हस्त हैं। प्राकृतिक दृश्यों का वर्णन भी बहुत अच्छा हुआ है। जायसी रहस्यवादी कवि हैं और उनका रहस्यवाद कबीर के रहस्यवाद से अधिक सुंदर है। कबीर के रहस्यवाद में जायसी की भाँति बिंबग्राहिता की व्यापकता और मधुरता नहीं पाई जाती।

जायसी की सर्वश्रेष्ठ रचना पद्मावत है। इसमें चित्तौर के राजा रतनसेन और सिंघलद्वीप की राजकुमारी पदमावती के विवाह की तथा पदमावती को प्राप्त करने के लिये बादशाह अलाउद्दीन के चढ़ाई करने की कथा वर्णित है। रामचरित-मानस की भाँति यह भी एक प्रबंध-काव्य है और उसी के समान दोहे-चौपाइयों में लिखा हुआ है। यह हिंदी-साहित्य

का एक अनुपम रत्न है। कवि की प्रबंध-पटुता और कथा-सूत्र का संबंध-निर्वाह प्रशंसनीय है। पद्मावत की कविता बड़ी ही भाव-पूर्ण, स्वाभाविक और हृदयस्पर्शी है। इसमें सांसारिक प्रेम के दृष्टांत द्वारा परमात्मा के प्रेम का आभास दिखाया गया है तथा सांसारिक प्रेम के कष्टों को अंकित करके भक्त की साधना के कष्ट-मय मार्ग का आभास दिया गया है। जायसी की दूसरी रचना अखरावट है जिसमें वेदांत विषय का विवेचन किया गया है। दोनों ग्रंथ ठेठ अवधी भाषा में लिखे गए हैं जिसका सौंदर्य भी देखने योग्य है।

नागमती-वियोग

नागमती चितउर-पथ हेरा। पिउ जो गए पुनि कीन्ह न फेरा॥
नागर काहु नारि-बस परा। तेइ मोहि पिय मोसौं हरा॥
सुआ काल होइ लेइगा पीऊ। पिउ नहिँ जात, जात बरु जीऊ॥
भएउ नरायन बावँन-करा। राज करत राजा बलि छरा॥
करन पास लीन्हे कै छंदू। बिप्र-रूप धरि झिलमिल इंदू॥
मानत भोग गोपिचँद भोगी। लेइ अपसवा जलंधर जोगी॥
लेइगा कृष्नहि गरुड़ अलोपी। कठिन बिछोह, जियहिँ किमि गोपी?
सारस-जोरी कौन हरि मारि बियाधा लीन्ह?
झुरि-झुरि पिंजर हौं भई, बिरह काल मोहि दीन्ह॥ १॥
पिउ-बियोग अस बाउर जीऊ। पपिहा निति बोलै पिउ-पीऊ॥
अधिक काम दाधै सो रामा। हरि लेइ सुआ गएउ पिउ नामा॥
बिरह-बान तस लाग न डोली। रकत पसीज, भीजि गइ चोली॥

सूखा हिया, हार भा भारी। हरि हरि प्रान तजहिँ सब नारी॥
खन एक आव पेट महँ साँसा। खनहिँ जाइ जिउ, होइ निरासा॥
पवन डोलावहिँ, सीँचहिँ चोला। पहर एक समुझहिँ मुख बोला॥
प्रान पयान होत को राखा? को सुनाव पीतम कै भाखा॥
आहि जो मारै बिरह कै, आगि उठै तेहि लागि।
हंस जो रहा सरीर महँ, पाँख जरा, गा भागि॥ २॥
पाट-महादेइ, हिये न हारू। समुझि जीउ चित चेतु सँभारू॥
भौँर कँवल सँग होइ मेरावा। सँवरि नेह मालति पहँ आवा॥
पपिहै स्वाती सौँ जस प्रीती। टेकु पियास, बाँधु मन थीती॥
धरतिहि जैस गगन सौँ नेहा। पलटि आव बरखा रितु मेंहा॥
पुनि बसंत रितु आव नवेली। सो रस, सो मधुकर, सो बेली॥
जिनि अस जीव करसि तू, बारी। यह तरिवर पुनि उठिहि सँवारी॥
दिन दस बिनु जल सूखि बिधंसा। पुनि सोइ सरवर, सोई हंसा॥
मिलहिँ जो बिछुरे साजन, अंकम भेँटि गहंत।
तपनि मृगसिरा जे सहैँ, ते अद्रा पलुहंत॥ ३॥
चढ़ा असाढ़, गगन घन गाजा। साजा बिरह दुंद दल बाजा॥
धूम, साम, धौरे घन धाए। सेत धजा बग-पाँति देखाए॥
खड़ग बीजु चमकै चहुँ ओरा। बुंद-बान बरसहिँ घन घोरा॥
ओनई घटा आइ चहुँ फेरी। कंत, उबारु, मदन हौँ घेरी॥
दादुर, मोर, कोकिला, पीऊ। गिरै बीजु, घट रहै न जीऊ॥
पुष्य नखत सिर ऊपर आवा। हौँ बिनु नाह, मँदिर को छावा॥
अद्रा लागि, लागि भुइँ लेई। मोहि बिनु पिउ को आदर देई?

जिन्ह घर कंता, ते सुखी, तिन्ह गारौ औ गर्ब ।
कंत पियारा बाहिरै, हम सुख भूला सर्ब ॥ ४ ॥
सावन बरस मेंह अति पानी । भरनि परी, हौँ बिरह झुरनी ॥
लाग पुनरबसु पीउ न देखा । भइ बाउरि, कहँ कंत सरेखा ?
रकत कै आँसु परहिँ भुइँ टूटी । रेँगि चलीँ, जस बीरबहूटी ॥
सखिन्ह रचा पिउ संग हिँडोला । हरियरि भूमि, कुसुंभी चोला ॥
हिय हिँडोल अस डोलै मोरा । बिरह झुलाइ देइ झकझोरा ॥
बाट असूझ अथाह गँभीरी । जिउ बाउर भा फिरै भँभीरी ॥
जग जल बूड़ जहाँ लगि ताकी । मोरि नाव खेवक बिनु थाकी ॥
परबत-समुद अगम बिच बीहड़ बन, घन ढाँख ।
किमि कै भेँटौं, कंत तुम ? ना मोहिं पाँव, न पाँख ॥ ५ ॥
भा भादौँ दूभर अति भारी । कैसे भरौँ रैनि अँधियारी ?
मँदिर सून, पिउ अनतै बसा । सेज-नागिनी फिरि फिरि डसा ॥
रहौँ अकेलि गहे एक पाटी । नैन पसारि मरौँ हिय फाटी ॥
चमक बीजु, घन गरजि तरासा । बिरह काल होइ जीउ गरासा ॥
बरसै मघा झकोरि झकोरी । मोरि दुइ नैन चुवैँ जस ओरी ॥
धनि सूखै भरे भादौँ माहाँ । अबहुँ न आएन्हि सीँचेन्हि नाहा ॥
पुरबा लागि भूमि जल पूरी । आक अवास भई तस झूरी ॥
जल-थल भरे अपूर सब, धरति गगन मिलि एक ।
धनि जोबन-अवगाह महँ दे बूड़त, पिउ, टेक ॥ ६ ॥
लाग कुवार, नीर जग घटा । अबहूँ आउ, कंत, तन लटा ॥
तोहि देखे, पिउ, पलुहै कया । उतरा चित्त, बहुरि करु मया ॥

चित्रा मित्र मीन कर आवा। पपिहा पीउ पुकारत पावा ॥
उआ अगस्त, हस्ति घन गाजा। तुरय पलानि चढ़े रन राजा ॥
स्वाति-बूँद चातक-मुख परे। समुद सीप मोती सब भरे ॥
सरवर सँवरि हंस चलि आए। सारस कुरलहिँ, खँजन देखाए ॥
भा परगास, काँस बन फूले। कंत न फिरे, बिदेसहि भूले ॥

बिरह-हस्ति तन सालै, घाय करै चित चूर।
बेगि आइ, पिउ, बाजहु, गाजहु होइ सदूर ॥ ७ ॥

कातिक सरद-चंद-उजियारी। जग सीतल, हौं बिरहै जारी ॥
चौदह करा चाँद परगासा। जनहुँ जरै सब धरति-अकासा ॥
तन, मन, सेज करै अगि-दाहू। सब कहँ चंद, भएउ मोहि राहू ॥
चहूँ खंड लागै अँधियारा। जौं घर नाहीँ कंत पियारा ॥
अबहूँ, निठुर, आउ एहि बारा। परब दिवारी होइ सँसारा ॥
सखि झूमक गावैँ अँग मोरी। हौं झुरावँ, बिछुरी मोरि जोरी ॥
जेहि घर पिउ सो मनोरथ पूजा। मो कहँ बिरह, सवति-दुख दूजा ॥

सखि मानैँ तिउहार सब, गाइ दिवारी खेलि।
हौं का गावौं कंत बिनु, रही छार सिर मेलि ? ॥ ८ ॥

अगहन दिवस घटा, निसि बाढ़ी। दूभर रैनि, जाइ किमि गाढ़ी ॥
अब धनि बिरह दिवस भा राती। जरौं बिरह जस दीपक-बाती ॥
काँपै हिया, जनावै सीऊ। तौ पै जाइ होइ सँग पीऊ ॥
घर घर चीर रचे सब काहू। मोर रूप-रँग लेइगा नाहू ॥
पलटि न बहुरा, गा जो बिछोई। अबहूँ फिरै, फिरै रँग सोई ॥

बज्र-अगिनि बिरहिनि हियजारा। सुलुगि सुलुगि दगधै होइ छारा॥
यह दुख-दगध न जानै कंतू। जोबन जनम करै भसमंतू॥
पिउ सौं कहेउ सँदेसड़ा, हे भौंरा, हे काग।
सो धनि बिरहै जरि मुई, तेहि क धुँवा हम लाग॥ ९॥
पूस जाड़ थर थर तन काँपा। सुरुज जाइ लंका-दिसि चाँपा॥
बिरह बाढ़, दारुन भा सीऊ। कँपि कँपि मरौं, लेइ हरि जीऊ॥
कंत कहाँ, लागौं ओहि हियरें। पंथ अपार, सूझ नहिं नियरें॥
सौंर सपेती आवै जूड़ी। जानहु सेज हिवंचल बूड़ी॥
चकई निसि बिछुरै, दिन मिला। हौं दिन राति बिरह-कोकिला॥
रैनि अकेलि साथ नहिं सखी। कैसे जियै बिछोहा पखी॥
बिरह सचान भएउ तन जाड़ा। जियत खाइ औ मुए न छाँड़ा॥
रकत ढुरा, माँसू गरा, हाड़ भयेहु सब संख।
धनि सारस होइ ररि मुई, पीउ समेटहि पंख॥ १०॥
लागेउ माघ परै अब पाला। बिरहा काल भएउ जड़काला॥
पहल पहल तन रूई झाँपै। हहरि हहरि अधिकौ हिय काँपै॥
आइ, सूर होइ, तपु रे, नाहा। तोहि बिनु जाड़ न छूटै माहा॥
एहि माहँ उपजै रसमूलू। तूँ सो भौंर, मोर जोबन फूलू॥
नैन चुवहिं, जस महवट-नीरू। तोहि बिन अंग लाग सर चीरू॥
टप टप बूँद परहिं, जस ओला। बिरह पवन होइ मारै झोला॥
केहि क सिंगार, को पहिरु पटोरा। गीउ न हार, रही होइ डोरा॥
तुम बिनु काँपै धनि हिया, तन तिनउर भा डोल।
तेहि पर बिरह जराइकै चहै उड़ावा झोल॥ ११॥

फागुन पवन झकोरा बहा। चौगुन सीउ, जाइ नहिं सहा॥
तन जस पियर पात भा मोरा। तेहि पर बिरह देइ झकझोरा॥
तरिवर झरहिं झरहिं बन ढाखा। भई अनंत फूलि फरि साखा॥
करहिं बनसपति हिये हुलासू। मो कहँ भा जग दून उदासू॥
फागु करहिं सब चाँचरि जोरी। मोहिं तन लाइ दीन्हि जस होरी॥
जौ पै पीउ जरत अस पावा। जरत-मरत मोहि रोख न आवा॥
राति-दिवस बस यह जिउ मोरे। लगौं निहोर कंत अब तोरे॥
यह तन जारौं छार कै, कहौं कि, 'पवन उड़ाव'।
मकु तेहि मारग उड़ि परै, कंत धरै जहँ पाव॥ १२॥
चैत बसंता होइ धमारी। मोहि लेखे संसार उजारी॥
पंचम बिरह पंच-सर मारै। रकत रोइ सगरौं बन ढारै॥
बूड़ि उठे सब तरिवर-पाता। भीजि मजीठ, टेसु-बन राता॥
बौरे आम फरै अब लागे। अबहुँ आउ घर, कंत, सभागे॥
सहस भाव फूलीं बनसपती। मधुकर घूमहिं सँवरि मालती॥
मो कहँ फूल भए सब काँटे। दिस्टि परत जग लागहिं चाँटे॥
फरि जोबन भए नारँग साखा। सुआ बिरह अब जाइ न राखा॥
घिरिनि परेवा होइ, पिउ, आउ बेगि, परु टूटि।
नारि पराए हाथ है, तोहि बिनु पाव न छूटि॥ १३॥
भा बैसाख, तपनि अति लागी। चोआ-चीर-चँदन भा आगी॥
सूरुज जरत हिवंचल ताका। बिरह-बजागि सौंह रथ हाँका॥
जरत बजागिनि करु पिउ, छाँहा। आइ बुझाउ, अँगारन्ह माहाँ॥
तोहि दरसन होइ सीतल नारी। आइ आगि तें करु फुलवारी॥

लागिउँ जरै, जरै जस भारू। फिरि फिरि भूँजेसि, तजिउँ न बारू ॥
सरवर-हिया घटत निति जाई। टूक टूक होइकै बिहराई ॥
बिहरत हिया, करहु पिय टेका। दीठि दवँगरा मेरवहु एका ॥

कँवल जो बिगसा मानसर, बिनु जल गएउ सुखाइ।
अबहुँ बेलि फिरि पलुहै, जौ पिउ सींचै आइ ॥ १४ ॥

जेठ जरै जग, चलै लुआरा। उठहिं बवंडर परहिं अँगारा ॥
बिरह गाजि हनुवँत होइ जागा। लंका-दाह करै तनु लागा ॥
चारिहु पवन झकोरै आगी। लंका दाहि पलंका लागी ॥
दहि भइ साम नदी कालिंदी। बिरह क आगि कठिन अति मंदी ॥
उठै आगि, औ आवै आँधी। नैन न सूझ, मरौं दुख बाँधी ॥
अधजर भइउँ, माँसु तन सूखा। लागेउ बिरह काल होइ भूखा ॥
माँसु खाइ अब हाड़न्ह लागै। अबहुँ आउ, आवत सुनि भागै ॥

गिरि, समुद्र, ससि, मेघ, रबि, सहि न सकहिं वह आगि।
मुहमद, सती सराहिए, जरै जौ अस पिउ लागि ॥ १५ ॥

तपै लागि अब जेठ-असाढ़ी। मोहिं पिउ बिनु छाजनि भइ गाढ़ी ॥
तन तिनउर भा, झूरौं खरी। भइ बरखा, दुख आगरि जरी ॥
बंध नाहिं, औ कंध न कोई। बात न आव, कहौं का रोई ?
साँठि नाठि, जग बात को पूछा ? बिनु पिउ फिरै मूँज-तनु छूँछा ॥
भई दुहेली टेक बिहूनी। थाँभ नाहिं, उठि सकै न थूनी ॥
बरसै मेह, चुवहिं नैनाहा। छपर छपर होइ रहि बिनु नाहा ॥
कोरौं कहाँ ठाट नव साजा। तुम बिनु कंत न छाजनि छाजा ॥

अबहूँ मया-दिस्टि करि, नाह निठुर, घर आउ।
मँदिर उजार होत है, नव कै आइ बसाउ॥ १६॥
रोइ गँवाए बारह मासा। सहस सहस दुख एक एक साँसा॥
तिल तिल बरख बरख परि जाई। पहर पहर जुग जुग न सेराई॥
सो नहिँ आवै रूप मुरारी। जासौं पाव सोहाग सुनारी॥
साँझ भए झुरि झुरि पँथ हेरा। कौनि सो घरी, करै पिउ फेरा?
दहि कोइला भइ कंत-सनेहा। तोला माँसु रही नहिँ देहा॥
रकत न रहा, बिरह तन गरा। रती रती होइ नैनन्ह ढरा॥
पाय लागि जोरै धनि हाथा। जारा नेह, जुड़ावहु, नाथा॥
बरस दिवस धनि रोइ कै, हारि परी चित झंखि।
मानुख घर घर बूझि कै, बूझै निसरी पंखि॥ १७॥
भई पुछार, लीन्ह बनबासू। बैरिनि सवति दीन्ह चिलवाँसू॥
होइ खर-बान बिरह तनु लागा। जौ पिउ आवै, उड़हि तौ, कागा॥
हारिल भई पंथ मैं सेवा। अब कहँ पठवौं कौन परेवा॥
धौरी पंडुक, कहु पिउ-नाऊँ। जौं चित रोख न दूसर ठाँऊँ॥
जाहि बया होइ पिउ कँठ लवा। करै मेराव सोइ गौरवा॥
कोइल भई पुकारति रही। महरि पुकारै, लेइ लेइ दही॥
पेड़ तिलोरी औ जल-हंसा। हिरदय बैठि बिरह कटनंसा॥
जेहि पंखी के निअर होइ कहै बिरह कै बात।
सोई पंखी जाइ जरि, तरिवर होइ निपात॥ १८॥
कुहुकि कुहुकि जस कोइल रोई। रकत-आँसु घुँघुची बन बोई॥
भइ करमुखी नैन तन राती। को सेराव? बिरहा दुख ताती॥

जहँ जहँ ठाढ़ि होइ बनबासी । तहँ तहँ होइ घुँघुचि कै रासी ॥
बूँद बूँद महँ जानहुँ जीऊ । गुंजा गूँजि करै 'पिउ-पीऊ' ॥
तेहि दुख भए परास निपाते । लोहू बूड़ि उठे होइ राते ॥
राते बिंब भीजि तेहि लोहू । परवर पाक, फाट हिय गोहूँ ॥
देखौं जहाँ, होइ सोइ राता । जहाँ सो रतन, कहै को बाता ?

नहिँ पावस ओहि देसरा, नहिँ हेवंत, बसंत ।
ना कोकिल, न पपीहरा, जेहि सुनि आवै कंत ॥ १९ ॥

हाड़ भए सब किँगरी, नसैँ भईँ सब ताँति ।
रोवँ रोवँ तैँ धुनि उठै, कहौं बिथा केहि भाँति ? ॥ २० ॥

---

४. तुलसीदास

पूर्व-माध्यमिक काल—भक्ति-युग (सगुण धारा)

गोस्वामी तुलसीदास का जन्म बाँदा जिले के राजापुर नामक गाँव में सरयूपारीण ब्राह्मण-कुल में हुआ था। उनकी शिष्य-परंपरा में उनका जन्मकाल संवत् १५५४ माना जाता है। शिवसिंह-सरोज में संवत् १५८३ लिखा है। कई अन्य विद्वान् संवत् १५८९ को गोस्वामीजी का जन्म-संवत् मानते हैं। उनकी मृत्यु संवत् १६८० में काशी में हुई। हाल ही में उनके मित्र बाबा वेणीमाधवदास लिखित गोसाईं-चरित नामक उनकी विस्तृत जीवनी का एक अध्याय मिला है जिसमें उनका जीवन-चरित्र संक्षेप में दिया हुआ है। इसकी प्रामाणिकता के विषय में विद्वानों में मतभेद है। उसमें गोस्वामीजी का जीवन-वृत्तान्त इस प्रकार दिया हुआ है—उनके पिता का नाम आत्माराम दुबे और माता का नाम हुलसी प्रसिद्ध है। उनकी माता की मृत्यु उनके जन्म के उपरान्त ही हो गई थी। पिता ने कुल-च्छणी जान उनका त्याग कर दिया। पाँच वर्ष तक मुनियाँ नाम की दासी ने उन्हें पाला-पोसा। उसके मरने पर महात्मा नरहरिदास ने उन्हें अपने पास रख लिया और कई बार रामायण की कथा सुनाई। पहले उनका नाम राम-बोला था। नर-

हरिदास ने बदलकर तुलसीदास नाम रख दिया। इसके पीछे गोस्वामीजी ने काशी में शेष-सनातन नामक विद्वान् से विधि-पूर्वक वेद-शास्त्र आदि का अध्ययन किया। फिर अपने घर राजा-पुर लौट आए और विवाह करके वहाँ रहने लगे। कहा जाता है कि वे अपनी स्त्री में अत्यन्त अनुरक्त थे। एक दिन उनकी अनुपस्थिति में वह अपने भाई के साथ पीहर चली गई। गोस्वामीजी आधीरात को नदी पारकर उसके पास जा पहुँचे। इस पर उसने इनको फटकारा और कहा कि यदि इतनी प्रीति श्रीराम से करते तो भव-भय से ही छूट जाते। यह बात गोस्वामीजी को लग गई और वे तुरंत काशी में आकर विरक्त हो गए। विरक्त होने के पीछे उन्होंने दूर दूर तक भ्रमण किया और वे साधु-सत्संग करते रहे। फिर क्रमशः चित्रकूट, अयोध्या और काशी में निवास करते रहे। उनका देहांत काशी में अस्सीघाट पर हुआ।

गोस्वामीजी हिंदी-साहित्य के सर्वश्रेष्ठ कवि तो हैं ही, उनकी गणना संसार के सर्वश्रेष्ठ कवियों में भी होती है। वे केवल कवि ही नहीं हैं किंतु धर्म और समाज के संरक्षक भी हैं। हिंदू-धर्म और हिंदू-जाति के जीवन पर उनका गहरा प्रभाव पड़ा है। डूबते हुए हिंदू-धर्म को उन्होंने बचाया और घोर नैराश्य के गंभीर गर्त्त में निमग्न हिंदू जाति में नव-जीवन का संचार कर उसकी रक्षा की। परस्पर घोर विद्वेष रखनेवाले हिंदू-धर्म के विविध संप्रदायों में सामंजस्य स्थापित करके उन्होंने

उनमें एकता का भाव उत्पन्न किया। सौंदर्य, शील और शक्ति-संपन्न भगवान् श्रीराम के स्वरूप को दिखाकर उन्होंने जनता के नैराश्य को नष्ट किया। उच्च सामाजिक और पारिवारिक आदर्श उपस्थित करके उन्होंने हिंदू समाज को सबल और सुखी बनाने का प्रयत्न किया। तुलसीदास के राम आज हिंदू-जीवन की रग रग में व्याप्त हो चुके हैं। लोक-संग्रह पर उनकी पूर्ण दृष्टि थी। समाज की मर्यादा को कायम रखने और उसमें फैली हुई उच्छृंखलता का नाश करने के लिये वे पूर्ण प्रयत्न-शील थे। उनकी रचनाओं का जीवन पर बड़ा अच्छा प्रभाव पड़ता है। उनमें सर्वत्र पवित्र भाव भरे हुए हैं। वे जीवन को ऊँचा उठाने-वाली हैं। गोस्वामीजी का शृंगार-वर्णन बड़ा पवित्र और मर्यादा-पूर्ण है। हिंदू-जाति के जीवन पर तुलसीदासजी का जितना प्रभाव पड़ा है उतना किसी का नहीं। आज घर घर उनकी रचना का प्रचार है। पढ़े-लिखे और अपढ़, विद्वान् और मूर्ख, बड़े और छोटे सभी उनकी रचना को पढ़-सुनकर आनंद प्राप्त करते हैं और लाभ उठाते हैं। उनकी सूक्तियाँ लोगों की जिह्वा पर रहती हैं और अवसर पर कहावतों की भाँति ही नहीं किंतु धर्मवाक्यों की तरह भी काम में लाई जाती हैं। उनका राम-चरित-मानस हिंदी-भाषा-भाषी जनता का धर्म-ग्रंथ हो रहा है। गुजरात में भी इसका इसी रूप में प्रचार है।

कविता की दृष्टि से भी तुलसीदास सबसे निराले हैं। वे हिंदी कविता के सम्राट् हैं। उनका काव्य-क्षेत्र बहुत व्यापक

है। मानव-जीवन की जैसी विशद व्याख्या तुलसीदास ने की है वैसी कोई हिंदी-कवि नहीं कर सका है। उसकी अनेकरूपता की कोई ऐसी परिस्थिति नहीं जिस तक उनकी सूक्ष्म दृष्टि न पहुँची हो। उनकी चरित्र-चित्रण शक्ति हिंदी में अनुपमेय है। चरित्र-चित्रण की स्वाभाविकता और सुंदरता देखते ही बनती है। भरत जैसा आदर्श चरित्र क्या संसार के साहित्य में कहीं मिलेगा? आख्यान के मर्मस्पर्शी स्थलों को पहचानकर उनका समीचीन वर्णन उन्होंने बड़ी ही सुकुमारता से किया है और अपनी भावुकता का पूर्ण परिचय दिया है।

गोस्वामीजी की प्रतिभा बहुमुखी थी। उनके समय में जितनी काव्य-शैलियाँ प्रचलित थीं उन सबमें उन्होंने रचना की और प्रत्येक में पूर्ण सफलता प्राप्त की। उनकी रचनाएँ अवधी में भी हैं और ब्रज में भी; और दोनों पर उनका समान अधिकार था। रस और अलंकारों का निर्वाह सर्वत्र स्वाभाविकता और मनोहरता के साथ किया गया है। भाषा सर्वत्र सरल, सुबोध, सुगठित और व्यवस्थित है। शिथिलता का कहीं नाम नहीं। बरवै-रामायण और कवितावली के कतिपय अंशों की भाषा में जो माधुर्य है वह अन्यत्र दुर्लभ है। विनय-पत्रिका के प्रारंभिक अंश की भाषा खूब संस्कृत-गर्भित है।

गोस्वामीजी की रचनाएँ निम्नलिखित हैं—

(१) राम चरित-मानस—यह लोगों में रामायण नाम से प्रसिद्ध है। इसमें भगवान् रामचंद्र का चरित विस्तार से वर्णित

है। इसकी भाषा अवधी है। यह मुख्यतया अध्यात्म-रामायण के आधार पर लिखा गया है पर स्थान स्थान पर अन्यान्य पुराण आदि ग्रंथों एवं शास्त्रों का भी सहारा लिया गया है। यह अनुवाद नहीं, किंतु स्वतंत्र ग्रंथ है। यह हिंदू धर्म-ग्रंथों का निचोड़ है। इसका जनता में बहुत प्रचार है। शायद ही कोई हिंदी पढ़ा-लिखा व्यक्ति हो जिसने इसे न पढ़ा हो। अपढ़ लोग भी दूसरों से इसकी कथा सुनकर आनंद-लाभ करते हैं। इसका भाव-गांभीर्य बड़े बड़े विद्वानों को मुग्ध करता है। यह हिंदी का सर्वश्रेष्ठ प्रबंध-काव्य है।

(२) विनय-पत्रिका—इसमें विनय-संबंधी पदों का संग्रह है। इसमें कवि ने अपनी दीनता का बड़ा भावपूर्ण वर्णन किया है। इसमें भक्त तुलसीदास के हृदय का वास्तविक दर्शन होता है। शांत-रस और भक्ति-भाव के उत्कर्ष का ऐसा प्रवाह हिंदी में दूसरा नहीं।

(३) गीतावली—यह सूर-सागर की शैली पर ब्रज-भाषा में लिखी हुई रचना है। इसमें श्रीराम-चरित्र-संबंधी फुटकर पदों का संग्रह है। कविता बहुत ही मनोहर और भावपूर्ण है।

(४) कृष्ण-गीतावली—यह ६१ पदों की छोटी सी रचना है इसमें कृष्ण-चरित्र के फुटकर पद हैं जिनमें अधिकतर गोपी-विरह और भ्रमर-गीत पर हैं।

(५) कवितावली—यह ग्रंथ भी ब्रज-भाषा में है और कवित्त तथा सवैया छंदों में लिखा हुआ है। इसमें राम-चरित्र के

फुटकर छंद हैं। इसके कई एक स्थल बड़े ही भावपूर्ण और हृदय-स्पर्शी हैं। अंत में विनय तथा कलियुग आदि के वर्णन के छंद हैं। इसमें कवि ने अपने जीवन पर भी कुछ प्रकाश डाला है।

(६) दोहावली—इसमें अनेक विषयों के ५७३ दोहे संगृहीत हैं। इसमें चातक-प्रेम वर्णन का प्रसंग बड़ा सुंदर है। उसमें प्रेम और प्रेमी का बड़ा ही मनोहर आदर्श खड़ा किया गया है।

(७) बरवै-रामायण—इसमें बरवै छंद में राम-चरित्र वर्णित है। कथा क्रम-बद्ध और पूर्ण नहीं है, केवल फुटकर छंदों का संग्रह है। इसकी भाषा अवधी है।

अन्य रचनाएँ ये हैं—(८) तुलसी-सतसई, (९) रामाज्ञा प्रश्न, (१०) जानकी-मंगल, (११) पार्वती-मंगल, (१२) वैराग्य-संदीपनी, (१३) रामललानहछू और (१४) हनुमान-बाहुक। इसके अतिरिक्त उनकी अन्य कई रचनाएँ और बतलाई जाती हैं; किन्तु उनके गोस्वामीजी द्वारा रचित होने के संबंध में विद्वानों में एक मत नहीं है।

मानस-रूपक

चौ०-संभुप्रसाद सुमति हिय हुलसी। राम-चरित-मानस कबि तुलसी
करइ मनोहर मति अनुहारी। सुजन सुचित सुनि लेहु सुधारी
सुमति भूमि थल हृदय अगाधू। बेद-पुरान उदधि घन साधू
बरषहि राम सुजस बर बारी। मधुर मनोहर मंगलकारी
लीला सगुन जो कहहिं बखानी। सोइ स्वच्छता करै मल हानी
पेम भगति जो बरनि न जाई। सोइ मधुरता सुसीतलताई

सो जल सुकृत सालि हित होई। राम-भगत-जन जीवन सोई
मेधा महिगत सो जल पावन। सकिलि स्रवन-मग चलेउ सुहावन
भरेउ सुमानस सुथल थिराना। सुखद सीत रुचि चारु चिराना

दो०—सुठि सुंदर संबाद बर बिरचे बुद्धि बिचारि।
तेइ एहि पावन सुभग सर घाट मनोहर चारि॥

चौ०-सप्त प्रबंध सुभग सोपाना। ज्ञाननयन निरखत मन माना
रघुपति-महिमा अगुन अबाधा। बरनब सोइ बर बारि अगाधा
रामसीय-जस सलिल सुधासम। उपमा बीचि-बिलास मनोरम
पुरइनि सघन चारु चौपाई। जुगुति मंजु मनि सीप सुहाई
छंद सोरठा सुंदर दोहा। सोइ बहुरंग कमलकुल सोहा
अरथ अनूप सुभाव सुभासा। सोइ पराग मकरंद सुबासा
सुकृतपुंज मंजुल अलिमाला। ग्यान-बिराग-बिचार मराला
धुनि अवरेब कबित गुन जाती। मीन मनोहर ते बहु भाँती
अरथ धरम कामादिक चारी। कहब ग्यान बिग्यान बिचारी
नव रस जप तप जोग बिरागा। ते सब जलचर चारु तड़ागा
सुकृती साधु नाम गुन गाना। ते बिचित्र जल बिहँग समाना
संत-सभा चहुँ दिसि अँबराई। श्रद्धा रितु बसंत सम गाई
भगति निरूपन बिबिध बिधाना। छमा दया द्रुम लता बिताना
सम जम नियम फूल फल ग्याना। हरिपद रस बर बेद बखाना
औरौ कथा अनेक प्रसंगा। तेइ सुक पिक बहु बरन बिहंगा

दो०—पुलक बाटिका बाग बन सुख सुबिहंग बिहारु।
माली सुमन सनेह जल सींचत लोचन चारु॥

चौ०-जे गावहि यह चरित सँभारे। तेइ एहि ताल चतुर रखवारे
सदा सुनहिं सादर नर नारी। तेइ सुर बर मानस-अधिकारी
अति खल जे बिषई बक कागा। एहि सर निकट न जाहिं अभागा
संबुक भेक सेवार समाना। इहाँ न बिषय कथा रस नाना
तेहि कारन आवत हिय हारे। कामी काक बलाक बिचारे
आवत एहि सर अति कठिनाई। रामकृपा बिनु आइ न जाई
कठिन कुसंग कुपंथ कराला। तिन्हके बचन बाघ हरि ब्याला
गृहकारज नाना जंजाला। तेइ अति दुर्गम सैल बिसाला
बन बहु बिषम मोह मद माना। नदी कुतर्क भयंकर नाना

दो०—जे श्रद्धा-संबल-रहित नहिं संतन्ह कर साथ।
तिन्ह कहँ मानस अगम अति जिनहिं न प्रिय रघुनाथ॥

चौ०-जौं करि कष्ट जाइ पुनि कोई। जातहि नींद जुड़ाई होई
जड़ता जाड़ विषम उर लागा। गयहु न मज्जन पाव अभागा
करि न जाइ सर मज्जन पाना। फिरि आवै समेत अभिमाना
जौं बहोरि कोउ पूछन आवा। सरनिंदा करि ताहि बुझावा
सकल बिघ्न ब्यापहिं नहिं तेही। राम सुकृपा बिलोकहिं जेही
सोइ सादर सर मज्जनु करई। महाघोर त्रयताप न जरई
ते नर यह सर तजहिं न काऊ। जिन्ह के रामचरन भल भाऊ
जो नहाइ चह एहि सर भाई। सो सतसंग करौ मन लाई
अस मानस मानस-चख चाही। भइ कबिबुद्धि बिमल अवगाही
भएउ हृदय आनंद उछाहू। उमगेउ प्रेम-प्रमोद-प्रबाहू
चली सुभग कविता सरिता सो। राग बिमल जस जलभरिता सो

सरजू नाम सुमंगलमूला। लोक-बेद-मत मंजुल कूला
नदी पुनीत सुमानस-नंदिनि। कलि-मल-त्रिन-तरु-मूल-निकंदिनि
दो०—श्रोता त्रिबिध समाज पुर ग्राम नगर दुहुँ कूल।
संतसभा अनुपम अवध सकल सुमंलमूल॥
चौ०-रामभगति सुर सरितहि जाई। मिली सुकीरति सरजु सुहाई
सानुज राम-समर-जसु पावन। मिलेउ महानदु सोन सुहावन
जुग बिच भगति देव-धुनि-धारा। सोहति सहित सुबिरति बिचारा
त्रिबिध ताप-त्रासक तिमुहानी। रामसरूप सिंधु समुहानी
मानस मूल मिली सुरसरिही। सुनत सुजनमन पावन करिही
बिच बिच कथा बिचित्र बिभागा। जनु सरितीर तीर बनु बागा
उमा-महेस-बिबाह-बराती। ते जलचर अगनित बहु भाँती
रघुबर - जनम - अनंद - बधाई। भवँर तरंग मनोहरताई
दो०—बालचरित चहुँ बंधु के बनज बिपुल बहुरंग।
नृप रानी परिजन सुकृत मधुकर बारिबिहंग॥
चौ०-सीय-स्वयंबर-कथा सुहाई। सरित सुहावनि सो छबि छाई
नदी नाव पटु प्रश्न अनेका। केवट कुसल उतर सबिबेका
सुनि अनुकथन परसपर होई। पथिकसमाज सोह सरि सोई
घोर धार भृगुनाथ-रिसानी। घाट सुबद्ध राम-बर-बानी
सानुज-राम-बिबाह-उछाहू। सो सुभ उमग सुखद सब काहू
कहत सुनत हरषहिं पुलकाहीं। ते सुकृती मन मुदित नहाहीं
रामतिलक-हित मंगल साजा। परम जोग जनु जुरे समाजा
काई कुमति केकई केरी। परी जासु फल बिपति घनेरी

दो०—समन अमित उतपात सब भरतचरित जपजाग।
कलिअघ खल-अवगुन-कथन ते जलमल बक काग॥
चौ०-कीरति सरित छहूँ रितु रूरी। समय सुहावनि पावनि भूरी
हिम हिमसैल सुता-सिव ब्याहू। सिसिर सुखद प्रभु-जनम-उछाहू
बरनब राम - बिबाह - समाजू। सो मुदमंगलमय रितुराजू
ग्रीषम दुसह राम - बन - गवनू। पंथकथा खर आतप पवनू
बरषा घोर निसाचर-रारी। सुरकुल सालि सुमंगलकारी
राम - राजसुख बिनय बड़ाई। बिसद सुखद सोइ सरद सुहाई
सतीसिरोमनि सिय-गुन-गाथा। सोइ गुन अमल अनूपम पाथा
भरतसुभाउ सुसीतलताई। सदा एकरस बरनि न जाई
दो०—अवलोकनि बोलनि मिलनि प्रीति परसपर हास।
भायप भलि चहुँ बंधु की जल माधुरी सुबास॥
चौ०-आरति बिनय दीनता मोरी। लघुता ललित सुबारि न खोरी
अदभुत सलिल सुनत सुखकारी। आस पिआस मनोमलहारी
राम सुपेमहि पोषत पानी। हरत सकल कलि - कलुप-गलानी
भव-श्रम-सोषक तोषक तोषा। समन दुरित दुख दारिद दोषा
काम-कोह-मद-मोह-नसावन। बिमल-बिबेक-बिराग - बढ़ावन
सादर मज्जन पान किए तें। मिटहिँ पाप परिताप हिए तें
जिन्ह एहि बारि न मानस धोए। ते कायर कलिकाल बिगोए
त्रिषित निरखि रबिकर भव बारी। फिरिहहिं मृग जिमि जीव दुखारी
दो०—मति अनुहारि सुबारि गुन-गन गनि मन अन्हवाइ।
सुमिरि भवानी-संकरहि कह कबि कथा सुहाइ॥

बरवै

सम सुबरन, सुखमाकर, सुखद न थोर ।
सीय अंग, सखि, कोमल, कनक कठोर ॥१॥
सिय मुख सरद-कमल जिमि किमि कहि जाइ ।
निसि मलीन वह, निसिदिन यह बिगसाइ ॥२॥
केस मुकुत, सखि, मरकत-मनि-मय होत ।
हाथ लेत पुनि मुकुता करत उदोत ॥३॥
चंपक - हरवा अँग मिलि अधिक सोहाइ ।
जानि परै सिय - हियरे, जब कुँभिलाइ ॥४॥

× × ×

कमठ - पाठ धनु, सजनी, कठिन, अँदेस ।
तमकि ताहि ए तोरिहि, कहब महेस ॥५॥
नृप निरास भए, निरखत नगर उदास ।
धनुख तोरि हरि सब कर हरेउ हरास ॥६॥

× × ×

उठी सखी हँसि, मिस करि, कहि मृदु बैन—
सिय - रघुबर के भए उनींदे नैन ॥७॥

× × ×

तुलसी, जनि पग धरहु गंग महँ साँच ।
निगानाँग करि नितहि नचाइहि नाच ॥८॥

× × ×

कमल कंटकित, सजनी, कोमल पाइ ।
निसि मलीन, यह प्रफुलित नित दरसाइ ॥९॥
सीय बरन सम केतकि अति हिय हारि ।
किहेसि भँवर कर हरवा हृदय बिदारि ॥१०॥

× × ×

बिरह-आगि उर ऊपर जब अधिकाइ ।
ए अँखियाँ दोउ बैरिनि देहिँ बुझाइ ॥११॥
डहकु न, है उजियरिया निसि, नहिँ घाम ।
जगत जरत अस लागु मोहि बिन राम ॥१२॥
अब जीवन कै है, कपि, आस न कोइ ।
कनगुरिया कै मुँदरी कँगना होइ ॥१३॥
सरद-चाँदनी सँचरत चहुँ दिसि आनि ।
बिधुहि जोरि कर बिनवति कुलगुरु जानि ॥१४॥

× × ×

चित्रकूट पय-तीर, सो सुर-तरु-बास ।
लखन-राम-सिय सुमिरहु, तुलसीदास ॥१५॥
सुमिरहु नाम राम कर, सेवहु साधु ।
तुलसी, उतरि जाउ भव उदधि अगाधु ॥१६॥
मरत कहत सब सब कहँ सुमिरहु राम ।
तुलसी, अब नहिँ जपत समुझि परिनाम ॥१७॥
केहि गिनती महँ, गिनती जस बन-घास ।
राम जपत भए तुलसी तुलसीदास ॥१८॥

नाम भरोस, नाम बल, नाम सनेहु।
जनम-जनम, रघुनंदन, तुलसिहि देहु ॥ १६ ॥

राम-वनवास

कीर के कागर ज्यौं नृप-चीर बिभूखन, उप्पम अंगनि पाई।
औध तजी मग-बास के रूख ज्यौं, पंथ के साथ ज्यौं लोग-लुगाई॥
संग सुबंधु पुनीत प्रिया, मनो धर्म-क्रिया धरि देह सुहाई।
राजिव-लोचन राम चले तजि बाप को राज बटाऊ की नाई ॥१॥

कागर-कीर ज्यौं भूषन-चीर सरीर लस्यो तजि नीर ज्यौं काई।
मातु पिता प्रिय लोग सबै सनमानि सुभाय सनेह सगाई॥
संग सुभामिनि भाइ भलो, दिन द्वै जनु औध हुती पहुनाई।
राजिव-लोचन राम चले तजि बाप को राज बटाऊ की नाई ॥२॥

× × ×

नाम अजामिल से खल कोटि अपार नदी भव बूड़त काढ़े।
जो सुमिरे गिरि-मेरु सिला-कन होत, अजा-खुर बारिधि बाढ़े॥
तुलसी, जेहिके पद-पंकज तें प्रगटी तटिनी, जु हरै अघ गाढ़े।
सो प्रभु स्वै सरिता तरिबे कहँ माँगत नाव करारे ह्वै ठाढ़े ॥३॥

एहि घाट तें थोरिक दूरि अहै कटि लौं जल थाह दिखाइहौं जू।
परसै पग-धूरि तरै तरनी, घरनी घर क्यौं समुझाइहौं जू?
तुलसी, अवलंब न और कछू, लरिका केहि भाँति जिआइहौं जू?
बरु मारिए मोहि, बिना पग धोये हौं, नाथ, न नाव चढ़ाइहौं जू॥४॥

रावरे दोख न पायँन को, पग-धूरि को भूरि प्रभाउ महा है ।
पाहन तें बन-बाहन काठ को कोमल है, जल खाइ रहा है ॥
पावन पायँ पखारिकै नाव चढ़ाइहौं, आयसु होत कहा है ?
तुलसी, सुनि केवट के बर बैन हँसे प्रभु जानकि ओर हहा है ॥५॥

पात भरी सहरी, सकल सुत बारे बारे,
केवट की जाति कछू बेद ना पढ़ाइहौं ।
सब परिवार मेरो याहि लागि, राजा जू, हौं
दीन बित्तहीन, कैसे दूसरी गढ़ाइहौं ?
गौतम की घरनी ज्यौं तरनी तरैगी मेरी,
प्रभु सों निखाद ह्वैके बाद न बढ़ाइहौं ।
तुलसी के ईस, राम, रावरे सों साँची कहौं,
बिना पग धोए, नाथ, नाव न चढ़ाइहौं ॥६॥

प्रभु-रुख पाइकै, बोलाइ बाल-घरनिहि,
बंदि कै चरन, चहुँ दिसि बैठे घेरि घेरि ।
छोटो सो कठौता भरि आनि पानी गंगाजू को,
धोइ पाँय पियत पुनीत बारि फेरि फेरि ॥
तुलसी सराहैं ताको भाग सानुराग सुर,
बरखैं सुमन, जय जय कहैं टेरि टेरि ।
बिबुध सनेह सानी बानी असयानी सुनि
हँसे राघौ जानकी लखन तन हेरि हेरि ॥७॥

× × ×

पुर तें निकसी रघुबीर-बधू, धरि धीर दए मग में डग द्वै ।
झलकीं भरि भाल कनी जल की, पुट सूखि गए मधुराधर वै ॥
फिरि बूझति हैं, चलनो अब केतिक, पर्नकुटी करिहौ कित ह्वै ?
तिय की लखि आतुरता पिय की अँखियाँ अति चारु चलीं जल च्वै॥८॥

जल को गए लक्खन हैं लरिका, परिखौ पिय छाँह घरीक ह्वै ठाढ़े ।
पोंछि पसेउ बयारि करौं, अरु पाँय पखारिहौं भूभुरि डाढ़े ॥
तुलसी, रघुबीर प्रिया-स्रम जानिकै बैठि बिलंब लौं कंटक काढ़े ।
जानकी नाह को नेह लख्यो, पुलक्यो तन, बारि बिलोचन बाढ़े ॥९॥

× × ×

बनिता बनी स्यामल गौर के बीच, बिलोकहु, री सखि, मोहि सी ह्वै ।
मग-जोग न, कोमल, क्यों चलिहैं ? सकुचात मही पद-पंकज छ्वै ॥
तुलसी, सुनि ग्राम-बधू बिथकीं, पुलकीं, तन औ चले लोचन च्वै ।
सब भाँति मनोहर मोहन रूप, अनूप हैं भूप के बालक द्वै ॥१०॥

साँवरे गोरे सलोने सुभाय मनोहरता जिति मैन लियो है ।
बान-कमान-निखंग कसे, सिर सोहैं जटा, मुनि-बेख कियो है ॥
संग लिए बिधु-बैनी बधू, रति को जेहि रंचक रूप दियो है ।
पाँयन तौ पनही न, पयादेहि क्यों चलिहैं, सकुचात हियो है ॥११॥

रानी मैं जानी अजानी महा, पबि-पाहन हूँ तें कठोर हियो है ।
राजहु काज-अकाज न जान्यो, कह्यो तिय को जिन कान कियो है ॥
ऐसी मनोहर मूरति ये, बिछुरे किमि प्रीतम लोग जियो है ?
आँखिन में, सखि, राखिबे जोग, इन्हैं किमि कै बनबास दियो है? १२

सीस जटा, उर बाहु बिसाल, बिलोचन लाल, तिरीछी सी भौंहैं ।
तून-सरासन-बान धरे, तुलसी, बन-मारग में सुठि सोहैं ॥
सादर बारहिं बार सुभाय चितै तुम त्यों हमरो मन मोहैं ।
पूछति ग्राम-बधू सिय सों, कहौ, साँवरे से सखि रावरे को हैं ? ॥१३॥
सुनि सुंदर बैन सुधा-रस साने, सयानी हैं जानकी जानी भली ।
तिरछे करि नैन, दै सैन, तिन्हैं समुझाइ, कछू मुसुकाइ चली ॥
तुलसी, तेहि औसर सोहैं सबै अवलोकति लोचन-लाहु अली ।
अनुराग-तड़ाग में भानु उदै बिगसीं मनो मंजुल-कंज-कली ॥१४॥
धरि धीर कहैं, चलु देखिय जाइ, जहाँ, सजनी, रजनी रहिहैं ।
कहिहै जग पोच, न सोच कछू, फल लोचन आपन तौ लहिहैं ॥
सुख पाइहैं कान सुने बतियाँ, कल आपुस में कछू पै कहिहैं ।
तुलसी, अति प्रेम लगीं पलकैं, पुलकीं लखि राम हिये महि हैं ॥१५॥
पद कोमल, स्यामल-गौर कलेवर, राजत कोटि मनोज लजाए ।
कर बान-सरासन, सीस जटा, सरसीरुह-लोचन सोन सुहाए ॥
जिन देखे, अली, सत भायहु तें, तुलसी, तिन तौ मन फेरि न पाए ।
यहि मारग आजु किसोर बधू बिधुबैनी समेत सुभाय सिधाए ॥१६॥

× × ×

सर चारिक चारु बनाइ, कसे कटि, पानि सरासन-सायक लै ।
बन खेलत राम फिरैं मृगया, तुलसी, छबि सो बरनै किमि कै ?
अवलोकि अलौकिक रूप मृगी-मृग चौंकि चकैं, चितवैं चित दै ।
न डगैं, न भगैं, जिय जानि सिलीमुख पंच धरे रतिनायक हैं ॥१७॥

× × ×

बिंध्य के बासी उदासी तपोव्रत-धारी महा बिनु नारि दुखारे।
गौतम-तीय तरी, तुलसी, सो कथा सुनि भे मुनि-बृंद सुखारे॥
ह्वैहैं सिला सब चंद्रमुखी परसे पद-मंजुल-कंज तिहारे।
कीन्ही भली, रघुनायक जू, करुना करि कानन को पगु धारे॥१८॥

गीतावली के पद

(१)

राम, हौं कौन जतन घरि रहिहौं ?
बार बार भरि अंक, गोद लै, ललन कौन सों कहिहौं ?
इहि आँगन बिहरत, मेरे बारे, तुम जो सँग सिसु लीन्हे।
कैसे प्रान रहत सुमिरत, सुत, बहु बिनोद तुम कीन्हे ?
जिन्ह स्रवननि कल बचन तिहारे सुनि सुनि हौं अनुरागी।
तिन्ह स्रवननि बन-गमन सुनति हौं, मोतें कौन अभागी ?
जुग सम निमिख जाहिं, रघुनंदन, बदन-कमल बिनु देखे।
जौ तनु रहै बरस बीते, बलि, कहा प्रीति इहि लेखे ?
तुलसीदास, प्रेम-बस श्रीहरि देखि बिकल महतारी।
गदगद कंठ, नयन जल, फिरि फिरि आवन कह्यो मुरारी॥

(२)

कृपानिधान, सुजान, प्रानपति, संग बिपिन ह्वै आवौंगी।
गृह तें कोटि-गुनित सुख-मारग चलत साथ सचुपावौंगी॥
थाके चरन-कमल चापौंगी, स्रम भए बाउ डोलावौंगी।
नयन-चकोरनि मुख-मयंक-छबि सादर पान करावौंगी॥

जौ हठि, नाथ, राखिहौ मोकहँ, तौ सँग प्रान पठावौंगी।
तुलसिदास, प्रभु बिनु जीवत रहि क्यों फिरि बदन देखावौंगी?

(३)

पिय, निठुर बचन कहे कारन कवन?
जानत हौ सबके मन की गति, मृदुचित परम कृपालु रवन॥
प्रान-नाथ, सुंदर, सुजान-मनि, दीनबंधु, जग-आरति-दवन।
तुलसिदास, प्रभु-पद-सरोज तजि रहि हौं कहा करौंगी भवन?

× × ×

(४)

आजु को भोर और सो, माई।
सुनौं न द्वार वेद-बंदी-धुनि, गुनिगन-गिरा सुहाई॥
निज निज सुंदर पति-सदननि तें रूप-सील-छवि छाई।
लेन असीस सीय करि आगे मोपै सुतबधू न आईं॥
बूझी हौं न बिहँसि रघुबर, 'कहाँ री सुमित्रा माता'।
तुलसी, मनहुँ महासुख मेरो देखि न सकेउ विधाता॥

(५)

जननी निरखति बान-धनुहियाँ।
बार बार उर नैननि लावति प्रभुजू की ललित पनहियाँ॥
कबहुँ प्रथम ज्यों जाइ जगावति कहि प्रिय बचन सबारे।
उठहु तात, बलि मातु बदन पर, अनुज सखा सब द्वारे॥
कबहुँ कहति यों, बड़ी बार भइ, जाहु भूप पहँ, भैया।
बंधु बोलि जेंइय जो भावै, गई निछावरि मैया॥

कबहुँ समुझि बन-गवन राम को रहि चकि चित्र लिखी सी ।
तुलसिदास, वह समय कहे तेँ लागति प्रीति सिखी सी ॥

(६)

माई री, मोहिँ कोउ न समुझावै ।
राम-गवन साँचो किधौँ सपनो, मन परतीति न आवै ॥
लगेहि रहत मेरे नैननि आगे राम, लखन अरु सीता ।
तदपि न मिटत दाह या उर की, बिधि जो भयो बिपरीता ॥
दुख न रहै रघुपतिहि बिलोकत, तनु न रहै बिनु देखे ।
करत न प्रान पयान, सुनहु सखि, अरुझि परी यहि लेखे ॥
कौसल्या के बिरह-बचन सुनि रोइ उठीँ सब रानी ।
तुलसिदास, रघुबीर-बिरह की पीर न जाति बखानी ॥

× × ×

(७)

ऐसे तैँ क्योँ कटु बचन कह्यो री ?
'राम जाहु कानन', कठोर तेरो कैसे धौँ हृदय रह्यो री ?
दिनकर-बंस, पिता दसरथ से, राम-लखन से भाई ।
जननी तू जननी, तौ कहा कहौँ, बिधि केहि खोरि न लाई ?
हौँ लहिहौँ सुख राजमातु ह्वै, सुत सिर छत्र धरैगो ।
कुल-कलंक मल-मूल मनोरथ तव बिनु कौन करैगो ?
ऐहैँ राम, सुखी सब ह्वैहैँ, ईस अजस मेरो हरिहै ।
तुलसिदास, मोको बड़ो सोच है, तू जनम कौन बिधि भरिहै ?

(८)

सुक सों गहबर हिय कहै सारो।
बीर कीर, सिय-राम-लखन बिनु लागत जग अँधियारो॥
भैया भरत भावते के सँग बन सब लोग सिधारो।
हम पँख पाइ पीँजरनि तरसत, अधिक अभाग हमारो॥
जीवन जग जानकी-लखन को, मरन महीप सँवारो।
तुलसी, और प्रीति की चरचा करत कहा कछु चारो॥

(९)

जब तेँ चित्रकूट तेँ आए।
नंदिग्राम खनि अवनि, डासि कुस, परनकुटी करि छाए॥
अजिन बसन, फल असन, जटा धरे, रहत अवधि चित दीन्हे।
प्रभु-पद-प्रेम, नेम, ब्रत निरखत मुनिन्ह नमित मुख कीन्हे॥
तुलसी, ज्यों ज्यों घटत तेज तनु, त्यों त्यों प्रीति अधिकाई।
भए न, हैँ न, होहिँगे कबहूँ भुवन भरत से भाई॥

(१०)

राघौ, एक बार फिरि आवौ।
ए बर बाजि बिलोकि आपने बहुरो बनहिँ सिधावौ॥
जे पय प्याइ, पोखि कर-पंकज, बार बार चुचुकारे।
क्यों जीवहिँ, मेरे राम लाड़िले, ते अब निपट बिसारे?
भरत सौगुनी सार करत हैँ, अति प्रिय जानि तिहारे।
तदपि दिनहिँ दिन होत झाँवरे, मनहुँ कमल हिम मारे॥

सुनहु पथिक, जो राम मिलहिँ बन, कहियो मातु-सँदेसो।
तुलसी, मोहि और सबहिन तेँ इन्हको बड़ो अँदेसो॥

(११)

कपि, कबहूँ राघव आवहिँगे?
मेरे नयन-चकोर प्रीति-बस राका-ससि-मुख दिखरावहिँगे?
मधुप, मराल, मोर, चातक ह्वै लोचन बहु बिधि धावहिँगे?
अंग अंग छबि भिन्न भिन्न सुख निरखि निरखि तहँ तहँ छावहिँगे?
बिरह-अगिनि जर रही लता ज्योँ, कृपादृष्टि-जल पलुहावहिँगे?
निज-बियोग-दुख जानि दयानिधि मधुर बचन कहि समुझावहिँगे?
रावन-बध रघुनाथ-बिमल-जस नारदादि मुनिजन गावहिँगे?
यह अभिलाख रैनि-दिन मोरे राज बिभीखन कब पावहिँगे?
तुलसिदास, प्रभु मोह-जनित भ्रम भेद-बुद्धि कब बिसरावहिँगे?

× × ×

(१२)

मेरो सब पुरुसारथ थाको।
बिपति-बँटावन बंधु-बाहु बिन करौँ भरोसो काको?
सुनु सुग्रीव, साँचेहूँ मोपर फेर्‍यो बदन बिधाता।
ऐसे समय समर-संकट हौँ तज्यो लखन सो भ्राता॥
गिरि-कानन जैहैँ साखामृग, हौँ पुनि अनुज-सँघाती।
ह्वैहै कहा बिभीखन की गति, रही सोच भरि छाती॥
तुलसी, सुनि प्रभु-बचन भालु-कपि सकल बिकल हिय हारे।
जामवंत हनुमंत बोलि तब औसर जानि प्रचारे॥

(१३)

अवधि आज किधौं औरो दिन द्वै हैं ।
चढ़ि धौरहर, बिलोकि दखिन दिसि, बूझ धौं पथिक कहाँ तें आए वै हैं
बहुरि बिचार हारि हिय सोचति, पुलकित गात, लागे लोचन च्वै हैं
निज बासरनि बरख पुरवैगो बिधि, मेरे तहाँ करम कठिन कृत कै हैं
बन रघुबीर, मातु गृह जीवति, निलज प्रान सुनि सुनि सुख स्वै हैं
तुलसिदास मो सी कठोर-चित कुलिस-साल-भंजनि को ह्वै है

(१४)

बैठी सगुन मनावति माता ।
कब ऐहैं मेरे बाल कुसल घर ? कहहु काग, फुर बाता ॥
दूध-भात की दोनी दैहौं, सोने चोंच मढ़ैहौं ।
जब सिय-सहित बिलोकि, नयन भरि, राम-लखन उर लैहौं ॥
अवधि समीप जानि जननी जिय अति आतुर अकुलानी ।
गनक बोलाइ पाँइ परि पूछति प्रेम-मगन मृदु-बानी ॥
तेहि अवसर कोउ भरत-निकट तें समाचार लै आयो ।
प्रभु-आगमन सुनत, तुलसी, मनो मीन मरत जल पायो ॥

(१५)

कैकेयी जो लौं जियत रही ।
तो लौं बात मातु सों मुँह भरि भरत न भूलि कही ॥
मानी राम अधिक जननी तें, जननिहुँ गँस न गही ।
सीय, लखन, रिपुदवन रामरुख लखि सबकी निबही ॥

लोक-बेद-मरजाद दोख-गुन गति चित चखन चही ।
तुलसी, भरत समुझि सुनि राखी राम सनेह सही ॥

बालकृष्ण

(१)

'छोटी-मोटी मीसी रोटी चिकनी चुपरि कै तू
दे री मैया', 'ले कन्हैया', 'सो कब ?', 'अबहिँ , तात' ।
'सिगरियै हौँही खैहौँ, बलदाऊ को न दैहौँ'
'सो क्योँ ?' 'भट्ट, तेरो कहा ?', कहि इत-उत जात ॥
बाल बोलि डहकि बिरावत, चरित लखि
गोपी-गन महरि मुदित पुलकित गात ।
नूपुर की धुनि, किंकिनी के कलरव सुनि
कूदि कूदि किलकि किलकि ठाढ़े ठाढ़े खात ॥
तनिया ललित कटि, बिचित्र टेपारो सीस,
मुनि-मन हरत बचन कहै तोतरात ।
तुलसी, निरखि हरखत, बरखत फूल,
भूरिभागी ब्रजबासी बिबुध-सिद्ध सिहात ॥

(२)

महरि तिहारे पाँय परौँ अपनो ब्रज लीजै ।
सहि देख्यो, तुम्ह सोँ कह्यो, अब नाकहि आई, कौन दिनहु दिन छीजै ?
ग्वालनि तौ गोरस सुखी ता बिनु क्योँ जीजै ।
सुत समेत पाउँ धारिए, आपुहि भवन मेरे देखिए, जो न पतीजै ॥

अति अनीति नीकी नहीं अजहूँ सिख दीजै।
तुलसिदास प्रभु सोँ कहै उर लाइ जसोमति ऐसी बलि कबहूँ नहिँ कीजै॥

(३)

छाँड़ो, मेरे ललित ललन, लरिकाई।
ऐहैँ सुत देखुवार कालि तेरे, बबै ब्याह की बात चलाई॥
डरिहैँ सासु-ससुर चोरी सुनि, हँसिहै नई दुलहिया सुहाई।
उबटौँ, न्हाहु, गुहौँ चोटिया, बलि, देखि भलो बर करिहिँ बड़ाई॥
मातु कह्यो करि कहत बोलि दै, भई बड़ बार कालि तौ न आई।
जब सोइबो तात, योँ हाँ कहि, नयन मीँचि, रहे पौढ़ि कन्हाई॥
उठि कह्यो, भोर भयो, झँगुली दै, मुदित महरि लखि आतुरताई।
बिहँसी ग्वालि, जानि, तुलसी, प्रभु सकुचि लगे जननी उर धाई॥

(४)

ब्रज पर घन घमंड करि आए।
अति अपमान बिचारि आपनो कोपि सुरेस पठाए॥
दमकति दुसह दसहुँ दिसि दामिनि, भयो तम गगन गँभीर।
गरजत घोर बारिधर धावत प्रेरित प्रबल समीर॥
बार बार पवि-पात, उपल घन बरखत बूँद बिसाल।
सीत सभीत पुकारत आरत गो, गो-सुत, गोपी, ग्वाल॥
राखहु, राम-कान्ह, यहि अवसर, दुसह दसा भई आइ।
नंद बिरोध कियो सुरपति सोँ, सो तुम्हरो बल पाइ॥
सुनि हँसि उठ्यो नंद को नाहरु, लियो कर कुधर उठाइ।
तुलसिदास, मघवा अपने सोँ करि गयो गरब गँवाइ॥

(५)

गावत गोपाल लाल नीके राग नट हैं।
चलि री आली देखन, लोयन-लाहु पेखन,
ठाढ़े सुरतरु-तर तटिनी के तट हैं।
मोरचंदा चारु सिर, मंजु गुंजा-पुंज धरे
बनी बन-धातु तन ओढ़े पीत-पट हैं।
मुरली-तान-तरंग मोहे कुरँग बिहंग,
जोहैं मूरति त्रिभँग, निपट निकट हैं।
अंबर अमर हरखत, बरखत फूल,
सनेह-सिथिल गोप-गाइन्ह के ठट हैं।
तुलसी, प्रभु निहारि जहाँ-तहाँ ब्रज-नारि
ठगीं, ठाढ़ी मग लिए रीते-भरे घट हैं॥

विनय के पद

(१)

सुनि सीता-पति-सील-सुभाउ।
मोद न मन, तन पुलक, नयन जल, सो नर खेहर खाउ॥
सिसुपन तें पितु-मातु-बंधु-गुरु-सेवक-सचिव-सखाउ।
कहत, राम-बिधु-बदन रिसौंहैं सपनेहु लख्यो न काउ॥
खेलत संग अनुज-बालक नित जोगवत अनट अपाउ।
जीति हारि चुचुकारि दुलारत, देत-दिवावत दाउ॥
सिला ताप-संताप-बिगत भई परसत पावन पाउ।
दई सुगति, सो न हेरि हरख हिय, चरन छुए पछिताउ॥

भव-धनु भंजि, निदरि भूपति, भृगुनाथ खाइ गए ताउ।
छमि अपराध, छमाइ पाँइ परि, इतौ न अनत समाउ॥
कह्यो राज, बन दियो नारि-बस, गरि गलानि गयो राउ।
ता कुमातु को मन जोगवत, ज्यों निज तनु मरम कुघाउ॥
कपि-सेवा-बस भए कनौड़े, कह्यो, पवनसुत, आउ।
देबे को न कछू, रिनियाँ हौं, धनिक तु, पत्र लिखाउ॥
अपनाए सुग्रीव-बिभीखन, तिन न तज्यो छल-छाउ।
भरत-सभा सनमानि सराहत, होत न हृदय अघाउ॥
निज करुना करतूति भगत पर, चपत चलत चरचाउ।
सकृत प्रनाम प्रनत-बस बरनत, सुनत, कहत 'फिरि गाउ'॥
समुझि समुझि गुन-ग्राम राम के उर अनुराग बढ़ाउ।
तुलसिदास, अनयास राम-पद पाइहै प्रेम-पसाउ॥

(२)

कबहुँक हौं यहि रहनि रहौंगो ?
श्री रघुनाथ कृपालु कृपा तें संत-सुभाव गहौंगो ?
जथा लाभ संतोख सदा, काहू सों कछु न चहौंगो ?
परहित-निरत निरंतर मन-क्रम-बचन नेम निबहौंगो ?
परुख बचन अति दुसह स्रवन सुनि तेहि पावक न दहौंगो ?
बिगत-मान सम सीतल मन, पर-गुन नहिं दोख कहौंगो ?
परिहरि देह-जनित चिंता, दुख-सुख सम बुद्धि सहौंगो ?
तुलसिदास, प्रभु यहि पथ रहि अबिचल हरि-भक्ति लहौंगो ?

(३)

मन, पछितैहै अवसर बीते।
दुरलभ देह पाइ हरिपद भजु, करम बचन अरु ही तें ॥
सहसबाहु, दसबदन आदि नृप बचे न काल बली तें ।
हम हम करि धन-धाम सँवारे, अंत चले उठि रीते ॥
सुत-बनितादि जानि स्वारथ-रत, न करु नेह सबही तें ।
अंतहुँ तोहि तजैंगे, पामर, तू न तजै अब ही तें ?
अब नाथहि अनुरागु, जागु, जड़, त्यागु दुरासा जी तें ।
बुझै न काम-अगिनि, तुलसी, कहुँ बिखय-भोग बहु घी तें ॥

(४)

ऐसी मूढ़ता या मन की ।
परिहरि राम-भगति सुर-सरिता, आस करत ओसकन की ॥
धूम-समूह निरखि चातक ज्यों तृखित जानि मति घन की ।
नहिं तहँ सीतलता, न बारि, पुनि हानि होति लोचन की ॥
ज्यों गच-काँच बिलोकि सेन जड़ छाँह आपने तन की ।
टूटत अति आतुर अहार-बस, छति बिसारि आनन की ॥
कहँ लौं कहौं कुचाल, कृपानिधि, जानत हौ गति मन की ।
तुलसिदास, प्रभु, हरहु दुसह दुख, करहु लाज निज पन की ॥

(५)

केसव, कहि न जाइ, का कहिए ।
देखत तव रचना बिचित्र अति समुझि मनहि मन रहिए ॥

सून्य भीति पर चित्र, रंग नहिँ, तनु बिनु लिखा चितेरे ।
धोए मिटै न, मरै भीति-दुख, पाइय यहि तनु हेरे ॥
रबि-कर-नीर बसै अति दारुन, मकर रूप तेहि माहीँ ।
बदन-हीन सो ग्रसै चराचर पान करन जे जाहीँ ॥
कोउ कह सत्य, झूठ कह कोऊ, जुगल प्रबल करि जानै ।
तुलसिदास, परिहरै तीनि भ्रम, सो आपन पहिचानै ॥

(६)

आपनो कबहुँ करि जानिहैा ?
राम, गरीब-निवाज, राजमनि, बिरद लाज उर आनिहैा ?
सील-सिंधु, सुंदर, सब लायक, समरथ, सदगुन-खानि हैा ।
पाल्यो है, पालत, पालहुगे, प्रभु, प्रनत-प्रेम पहिचानिहैा ॥
बेद-पुरान कहत, जग जानत, दीन-दयालु दिन-दानि हैा ।
कहि आवत, बलि जाहुँ, मनहुँ मेरी बार बिसारे बानि हैा॥
आरत, दीन, अनाथनि के हित मानत लौकिक कानि हैा ।
है परिनाम भलो तुलसी को, सरनागत-भय भानिहैा ॥

(७)

अब लौँ नसानी, अब न नसैहैाँ ।
राम-कृपा भव-निसा सिरानी, जागे फिरि न डसैहैाँ ॥
पायो नाम चारु चिंतामनि, उर कर तेँ न खसैहैाँ ।
स्याम-रूप सुचि रुचिर कसौटी चित-कंचनहि कसैहैाँ
परबस जानि हँस्यौ इन इंद्रिन, निज बस ह्वै न हँसैहैाँ
मन-मधुकर पन करि, तुलसी, रघुपति-पद कमल बसैहैाँ ॥

५. मीराँबाई

पूर्व-माध्यमिक काल—भक्ति-युग (सगुण धारा)

मीराँबाई का जन्म जोधपुर राज्य के मेड़ता प्रांत के चौकड़ी नामक गाँव में संवत् १५५५ के लगभग हुआ था। उनका मृत्युकाल संवत् १६०३ बतलाया जाता है। जोधपुर नगर को बसानेवाले राव जोधाजी उनके प्रपितामह और मेड़ता के अधिपति राव दूदाजी उनके पितामह थे। उनके पिता का नाम रतनसिंह था। चित्तौड़ की रक्षा करते हुए प्राण-विसर्जन करनेवाले वीर योद्धा और प्रसिद्ध भक्त जयमल उनके चचेरे भाई थे। संवत् १५७३ के लगभग उनका विवाह वीर-शिरोमणि महाराणा साँगा के ज्येष्ठ राजकुमार कुँवर भोजराज के साथ हुआ। मीराँबाई पति-सेवा का सुख अधिक नहीं भोग सकीं। संवत् १५८३ में कुँवर भोजराज का देहांत हो गया। वे बचपन से ही श्रीकृष्ण की भक्ति करती थीं। पति-प्रेम से वंचित होने पर उन्होंने अपना समस्त प्रेम भगवच्चरणों में लगा दिया। धीरे धीरे उनकी भक्ति की ख्याति फैल गई और साधु-संत दूर दूर से उनके सत्संग के लिये आने लगे। संवत् १५८५ में महाराणा साँगा की मृत्यु हुई। उनके पश्चात् रतनसिंह गद्दी पर बैठे पर शीघ्र ही मारे गए। तब राणा

विक्रमाजीत राज्याधिकारी हुए। वे उद्धत प्रकृति के थे। राजघराने की एक रानी का इस प्रकार खुलकर साधु-संतों से मिलना और मंदिरों में कीर्तन-भजन करना उन्हें अच्छा न लगा। वे मीराँ को सताने लगे। उन्हें विष-पान भी कराया गया पर श्रीकृष्णानुग्रह से उनका कुछ न बिगड़ा। अन्त में दु:खी होकर उन्होंने मेवाड़ छोड़ दिया और कुछ समय तक वे तीर्थाटन करती रहीं। फिर द्वारका में उन्होंने स्थायी निवास बना लिया और अन्त-समय तक वहीं श्री रणछोड़ भगवान् की आराधना में रत रहीं। कहते हैं कि प्रसिद्ध भक्त रैदास को उन्होंने अपना गुरु बनाया था।

मीराँबाई की गणना उच्च कोटि के भक्त-कवियों में है। हिंदी, राजस्थानी और गुजराती तीनों साहित्यों में उनको प्रमुख स्थान प्राप्त है। स्त्री-कवियों में उनका प्रथम स्थान है। उनकी रचना का प्रचार भी बहुत है। अपढ़ देहाती स्त्रियों तक उनके भजनों की पहुँच है। उनकी कविता बड़ी ही सरल और सुबोध है। हृदय की मर्मस्पर्शिनी वेदना, अंतर की विकलता और प्रेम-मय तल्लीनता उनकी कविता में भरी पड़ी है। आराध्य-देवता के प्रति उनके हृदय में जो अगाध प्रेम था वह प्रत्येक पद से टपका पड़ता है। भाषा की सरलता और भावों की तन्मयता उनकी कविता का विशेष गुण है।

मीराँबाई की रचना मुख्यतया पदों में है। रचना की भाषा मुख्यतया राजस्थानी है जिसमें स्थान स्थान पर ब्रज और

कहीं कहीं गुजराती का भी मिश्रण है। अनेक पद शुद्ध व्रज-भाषा और गुजराती में भी मिलते हैं। भाषा भावानुरूप और सर्वत्र सुगम है।

उनकी दूसरी प्राप्य रचना 'नरसीजीरो माहेरो' है। इसकी भाषा व्रज है और इसमें मीराँ और उनकी एक सखी मिथुला के संवाद में गुजरात के प्रसिद्ध भक्त नरसिंह मेहता के माहेरे का वर्णन है।

राग-गोविंद नाम का एक और ग्रंथ मीराँबाई का बताया जाता है पर वह अप्राप्य है। बहुत संभव है कि उनके जो भजन आजकल मिलते हैं इन्हीं के संग्रह का नाम राग-गोविंद हो।

पद

(१)

नहिं ऐसो जनम बारंबार।
का जानूँ, कछु पुण्य प्रगटे, मानुसा अवतार ॥
बढ़त पल पल, घटत छिन छिन, जात न लागै बार।
बिरछ के ज्यों पात टूटे बहुरि न लागै डार ॥
भौ-सागर अति जोर कहिए, अनँत ऊँडी धार।
राम-नाम का बाँध बेड़ा, उतर परले पार ॥
ज्ञान-चोसर मँडी चोहटे; सुरत पासा-सार।
या दुनिया में रची बाजी, जीत भावैं हार ॥

साधु, संत, महंत, ग्यानी चलत करत पुकार।
दास मीराँ, लाल गिरधर, जीवणा दिन च्यार ॥

(२)

या ब्रज में कछु देख्यो री टोना ।
लै मटुकी सिर चली गुजरिया, आगे मिले बाबा नँद जी के छोना।
दधि को नाम बिसरि गयो प्यारी, 'लै लेहु री कोइ स्याम सलोना'॥
बृंदाबन की कुंज-गलिन में, आँखि लगाइ गयो मनमोहना ।
मीराँ के प्रभु गिरधर नागर सुंदर स्याम सुघर रस-लोना ॥

(३)

दरस बिनि दूखण लागे नैन ।
जब के तुम बिछुरे प्रभु मोरे कबहुँ न पायो चैन ॥
सबद सुणत मेरी छतियाँ काँपै मीठे मीठे बैन ।
कल न परत पल हरि-मग जोवत भई छ-मासी रैन ॥
बिरह-कथा कासूँ कहूँ सजनी बह गई करवत ऐन ।
मीराँ के प्रभु कब रे मिलोगे दुख-मेटण सुख-दैन ॥

(४)

सुनी हो मैं हरि आवन की आवाज ।
महल चढ़े चढ़ि जोऊँ सजनी कब आवै महाराज ॥
दादर, मोर, पपइया बोलै कोइल मधुर साज ।
उमग्यो इंद चहूँ दिस बरसै दामिणि छोडे लाज ॥
धरती रूप नवा नवा धरिया इंद्र मिलण के काज ।
मीराँ के प्रभु हरि अबिनासी बेग मिलो महाराज ॥

(५)

बादल देख डरी हो स्याम मैं बादल देख डरी।
काली-पीली घटा ऊमटी बरस्यौ एक घरी।
जित जाऊँ तित पाणी ही पाणी हुई हुई भोम हरी॥
जाका पिय परदेस बसत है भीजै बाहर खरी।
मीराँ के प्रभु हरि अबिनासी कीज्यौ प्रीत खरी॥

(६)

जोगिया जी छाइ रह्या परदेस।
जब का बिछड़्या फेर न मिलिया बहुरि न दियो सँदेस।
या तन ऊपर भसम रमाऊँ खोर करूँ सिर केस॥
भगवाँ भेख करूँ तुम कारन ढूँढत च्यारूँ देस।
मीराँ के प्रभु राम मिलण कूँ जीवनि जनम अनेस॥

(७)

कोई कहियौ रे प्रभु आवन की,
आवन की मनभावन की।
वै नहिँ आवै लिख नहिँ भेजै बान परी ललचावन की।
ए दोइ नैन कह्यो नहिँ मानैं नदियाँ बहै जैसे सावन की॥
कहा करूँ कछु बस नहिँ मेरो पाँख नहीं उड जावन की।
मीराँ के प्रभु कब रे मिलोगे चेरी भई तेरे दावन की॥

(८)

मेरे प्रीतम प्यारे राम कूँ लिख भेजूँ रे पाती।
स्याम सनेसो कबहुँ न दीन्हो जानि-बूझ गुझबाती।

डगर बुहारूँ पंथ निहारूँ जोइ जोइ अँखियाँ राती ॥
राति-दिवस मोहि कल न परत है हीयो फटत मेरी छाती ।
मीराँ के प्रभु कब रे मिलोगे पुरब जनम का साथी ॥

(९)

मैं बिरहिणि बैठी जागूँ जगत सब सोवै री आली ।
बिरहिणि बैठी रंगमहल में मोतियन की लड़ पोवै ।
इक बिरहिणि हम ऐसी देखी अँसुवन की माला पोवै ॥
तारा गिण गिण रैण बिहानी सुख की घड़ी कब आवै ।
मीराँ के प्रभु गिरधर नागर मिल करि बिछुड़ि न जावै ॥

(१०)

सखी मेरी नींद नसानी हो,
पिय को पंथ निहारते सब रैण विहानी हो ।
सब सखियन मिलि सीख दई मन एक न मानी हो ।
बिनि देख्याँ कल नहिं पड़त जिय ऐसी ठानी हो ॥
अंग अंग व्याकुल भई मुख पिय पिय बानी हो ।
अंतर बेदन बिरह की वह पीड़ न जानी हो ॥
ज्यूँ चातक घन कूँ रटै मछरी जिमि पानी हो ।
मीराँ व्याकुल बिरहिणी सुध-बुध बिसरानी हो ॥

(११)

हेली मैं तो दरध-दिवाणी हो,
दरध न जाणै मेरा कोइ ।

घाइल की गति घाइल जाणै, और न जाणै कोइ ।
सूली ऊपर सेझ हमारी सोवणा किस विध होइ ॥
सुख-संपति में सब मिलि आवै, दुख में वलभ न कोइ ।
मीराँ के प्रभु पीर मिटेगी, जब बैद रमइयो होइ ॥

(१२)

गली तो चारों बंद हुई, मैं हरि से मिलूँ कैसे जाइ ?
ऊँची-नीची राह रपटीली, पाँव नहीं ठहराइ ।
सोच सोच पग धरूँ जतन से, बार बार डिग जाइ ॥
ऊँचा-नीचा महल पिया का, हम पै चढ्या न जाइ ।
पिया दूर, पँथ म्हारा झीणा, सुरत झकोला खाइ ॥
मीराँ के प्रभु गिरधर नागर, सतगुर दई बताइ ।
जुगन जुगन से बिछुड़ी मीराँ घर में लीन्हा आइ ॥

(१३)

लगी मोहि राम खुमारी हो ।
रिमझिम बरसै मेहड़ा भीजै तन सारी हो ।
चहुँ दिसि दमकै दाँमणी गरजै घन भारी हो ॥
सतगुरु भेद बताइया खोली भरम-किँवारी हो ।
सुन्नि-मँडल की सेझ में पौढे पिव-प्यारी हो ॥
पाँच-पचीसूँ परहर्‌या सब दुंद बिसारी हो ।
सब घट दीसै आतमा सबही सूँ न्यारी हो ॥
दीपग जोऊँ ग्याँन का चढूँ अगम अटारी हो ।
मीराँ दासी राम की अमरित बलिहारी हो ॥

(१४)

म्हाँरा सतगुर बेगा आज्यो जी ,
म्हाँरे सुख की सीर वुहाज्यो जी ।
तुम बीछड़ियाँ दुख पाऊँ जी मेरा मन माँही मुरझाऊँ जी ।
मैं कोइल ज्यूँ कुरलाऊँ जी कुछ बाहिर कह न जनाऊँ जी ॥
ऊ दिन कबै करोला जी म्हाँरे आँगण पाँव धरोला जी ।
अरज करै मीराँ दासी जी गुर-पद-रज की मैं प्यासी जी ॥



६. सेनापति

पूर्व-माध्यमिक काल

सेनापति कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। ये अनूपशहर (जिला बुलंदशहर) के रहनेवाले थे। इनका जन्म संवत् १६४६ के लगभग माना जाता है। इनकी मृत्यु-तिथि का पता नहीं चलता परंतु इनका कवित्त-रत्नाकर नामक ग्रंथ संवत् १७०६ में समाप्त हुआ था अतः उस समय तक इनका जीवित रहना निश्चित है। जीवन के अंतिम दिनों में ये संन्यासी हो गए। इन्हें श्रीराम का इष्ट था और इन्होंने श्रीराम-चरित्र-संबंधी बहुत से घनाक्षरी लिखे थे। सवैए में इनका उपनाम 'सेना-पति' नहीं आ सकता और इन्हें अपने प्रत्येक छंद में अपना उपनाम रखने का आग्रह था अतः इन्होंने सवैए बिलकुल नहीं लिखे। सेनापति बड़े ही सहृदय और भावुक कवि थे इनकी कविता बड़ी भावमयी और हृदयस्पर्शी है।

हिंदी के प्रकृति-वर्णन करनेवाले कवियों में सेनापति का स्थान बहुत ऊँचा है। उनके ऐसा मनोरम और हृदयग्राही षड् ऋतुवर्णन हिंदी के किसी अन्य कवि ने नहीं किया है। उससे उनकी प्रकृति-निरीक्षण की शक्ति का अच्छा परिचय मिलता है। उनके श्रीराम-चरित्र-वर्णन की कविता ओजस्विनी एवं

प्रभावोत्पादक है। भक्ति-विषयक रचना भी उन्होंने की है जो अनूठी एवं चमत्कार-पूर्ण है।

सेनापति की भाषा माधुर्य-गुण-पूर्ण और प्रौढ़ता को लिए हुए है। भाषा पर उनका अधिकार असाधारण है। यमक, अनुप्रास, श्लेष आदि शब्दालंकारों की प्रचुरता होते हुए भी उसमें कहीं कृत्रिमता नहीं आने पाई है। पद-विन्यास भी बड़ा ललित है।

सेनापति ने कवित्त-रत्नाकर और काव्य-कल्पद्रुम नामक दो ग्रंथ, ब्रजभाषा में, लिखे हैं।

ऋतु-वर्णन

ग्रीष्म

बृख को तरनि तेज सहस किरनि तपै,
ज्वालनि के जाल बिकराल बरखत हैं।
तचति धरनि जग झरत झरनि, सीरी,
छाँह को पकरि पंथी-पंछी बिरमत हैं॥
सेनापति, नेक दुपहरी ढरकत होत,
धमका बिखम जो न पात खरकत हैं।
मेरे जान पौन सीरी ठौर को पकरि कौनौ,
घरी एक बैठि कहूँ घाम बितवत है॥ १॥
सेनापति, उवै दिनकर के चलत लुवैं,
नदी-नद-कुवैं कोपि डारत सुखाइकै।

चलत पवन, मुरझात उपबन-बन,
लाग्यौ है तपन जर्‍यौ भूत लौं तचाइकै ॥
भीखम तपत रितु ग्रीखम, सकुच तातें,
सीकर चपत तहखाननि में जाइकै ।
मानो सीतकाल सीतलता के जमाइबै को,
राखे हैं बिरंचि बीज धरा में छिपाइकै ॥ २ ॥
सेनापति, तपन तपत उतपति तैसो,
छायो रितुपति, तातें बिरह बरत है ।
लुवन की लपटें ते चहुँ ओर लपटैं, पै,
ओढ़े सलिल पटै न चैन उपजत है ॥
गगन गरद-धूँधि दसौ दिसा रही रूँधि,
मानो नभ भारु को भसम बरसत है ।
बरनि बताई छिति ब्योम की तताई, जेठ,
आयो आततांई, पुटपाक सो करत है ॥ ३ ॥
तपत है जेठ, जग जात है जरनि जर्‍यो,
ताप की तरनि मानो झरनि झरत है ।
इतहि असाढ़ उठी नूतन सघन घटा,
सीतल समीर हिय धीरज हरत है ॥
आधे अँग ज्वालनि के जाल बिकराल, आधे,
सीतल सुभग मोद ही-तल भरत है ।
सेनापति, ग्रीखम तपति रितु भीखम है,
मानो बड़वानल सों बारिधि जरत है ॥ ४ ॥

वर्षा

दामिनि दमक, सुरचाप की चमक, स्याम-
घटा की घमक अति धुरवान घोर तें।
कोकिला-कलापी कल कूजत हैं जित-तितें,
सीतल है ही-तल समीर-झकझोर तें॥
सेनापति, आवन कह्यो है मन-भावन, सो,
लाग्यो तरसावन बिरह-जुर जोर तें।
आयो, सखि, सावन बिरह-सरसावन,
लग्यो है बरसावन सलिल चहुँ ओर तें॥ ५॥

दूरि जदुराई, सेनापति, सुखदाई, देखो,
आई रितु पावस, न पाई प्रेम-पतियाँ।
धीर जलधर की सुनत धुनि धरकी सु,
दरकी सुहागिन की छोह-भरी छतियाँ॥
आई सुधि बर की हिये में आनि खरकी,
सुमिरि प्रान-प्यारी वह प्रीतम की बतियाँ।
बीति औधि आवन की लाल मनभावन की,
डग भईं बाँवन की सावन की रतियाँ॥ ६॥

सेनापति, उनए नए जलद सावन के,
चारिहू दिसनि घूमरत भरि तोइ कै।
सोभा सरसाने, न बखाने जात केहूँ भाँति,
आने हैं पहार माने काजर के ढोइकै॥

घन सोँ गगन छयो, तिमिर सघन भयो,
　　देखि न परत मानो रबि गयो खोइकै।
चारि मास भरि स्याम निसा को भरम मानि,
　　मेरी जान, याही तेँ रहत हरि सोइकै ॥ ७ ॥

शरद्

खंड खंड सब दिग-मँडल जलद सेत,
　　सेनापति, मानो शृंग फटिक-पहार के।
अंबर अडंबर सोँ घुमड़ि घुमड़ि छन,
　　छिछि कै छछारै छिछि अछिन उछार कै ॥
सलिल सहल, मानो सुधा के महल नभ,
　　तूल के पहल किधौँ पवन अधार के।
पूरब को साजत हैँ, रजत से राजत हैँ,
　　गग गग गाजत गगन घनकार के ॥ ८ ॥
बिबिध बरन सुरचाप के न देखियत,
　　मानो मनि-भूखन उतारिबे के भेस है।
उन्नत पयोधर बरसि रस गिरि रहे,
　　नीके न लगत फीके, सोभा को न लेस है ॥
सेनापति, आए तेँ सरद रितु फूलि रहे,
　　आस-पास कास-खेत, सेत चहुँ देस है।
जीवन-हरन कुँभजोनि उदये तेँ भई,
　　बरखा बिरिध, ताके सेत मानो केस हैँ ॥ ९ ॥

कातिक की राति थोरी थोरी सियराति, सेना-
पति, है सुहाति, सुखी जीवन के गन हैं।
फूले हैं कुमुद, फूली मालती सघन बन,
फूलि रहे तारे मानो मोती अनगन हैं॥
उदित बिमल चंद, चाँदनी छिटकि रही,
राम के सो जस अध-उरध गगन है।
तिमिर-हरन भयो, सेत है बरन सब,
मानहु जगत छीर-सागर-मगन है॥१०॥

हेमंत

सीत को प्रबल, सेनापति, कोपि चढ़्यो दल,
निबल अनल दूरि गयो सियराइकै।
हिम के समीर तेई बरखैं विखम तीर,
रही है गरम भौन-कोननि में जाइकै॥
धूम नैन बहैं, लोग होत हैं अचेत तऊ,
हिय सोँ लगाइ रहे नेक सुलगाइकै।
मानो मीत जानि महा-सीत तें पसारि पानि,
छतियाँ की छाँह राख्यो पावक छपाइकै॥११॥
आयो, सखि, पूसौ, भूलि कंत सोँ न रूसो, केलि
ही सोँ मन मूसो, जीव ज्योँ सुख लियतु है।
दिन की घटाई, रजनी की अघटाई, सीत-
ताई हू को, सेनापति, बरनि कहतु है॥

याही तेँ निदान प्रात बेगि उदै होत नाहिँ,
द्रोपदि के चीर को सो रात को महतु है।
मेरे जान सूरज पताल तप-तालै माँझ,
सीत को सतायो कहलाइकै रहतु है ॥१२॥

शिशिर

सिसिर तुखार के बुखार से उखारत है,
पूस बीते होत सून हाथ-पाँइ ठिरिकै।
द्यौस की छुटाई की बड़ाई बरनी न जाइ,
सेनापति, गाई कछु सोचिकै सुमिरिकै॥
सीत तेँ सहसकर सहस-चरन ह्वै कै,
ऐसे जात भाजि, तम आवत है घिरिकै।
जो लौँ कोक कोकी सोँ मिलत तो लौँ होत रात,
कोक अधबीच ही तेँ आवत है फिरिकै ॥१३॥
सिसिर में ससि को सरूप पावै सविताहू,
घामहूँ मेँ चाँदनी की दुति दमकति है।
सेनापति, होत सीतलता है सहसगुनी,
रजनि की झाँई बासर मेँ झमकति है॥
चाहत चकोर सूर ओर दृग छोर करि,
चकवा की छाती तजि धीर धसकति है।
चंद के भरम होत मोद है कुमोदिनी को,
ससि-संक पंकजनो फूलि न सकति है ॥१४॥

वसंत

लाल लाल टेसू फूलि रहे हैं बिलास सँग,
स्यामरंग-मयी मानो मसि में मिलाए हैं।
तहाँ मधु-काज आइ बैठे मधुकर-पुंज,
मलय-पवन उपबन-बन धाए हैं॥
सेनापति, माधव महीना में पलास तरु,
देखि देखि भाव कविता के मन आए हैं।
आधे अँग सुलगि सुलगि रहे, आधे मानो,
बिरही-दहन काम क्वैला परचाए हैं॥१५॥

केतक, असोक, नव-चंपक, बकुल-कुल,
कौन धौं बिजोगिन को ऐसो बिकराल है।
सेनापति, साँवरे की सुरति की सुरति की,
सुरति कराइ करि डारत बिहाल है॥
दच्छिन पवन एती ताहू की दवन, जऊ,
सूनो है भवन, परदेस प्यारो लाल है।
लाल हैं प्रबाल फूले देखत बिसाल जऊ,
फूले और साल पै रसाल उर साल है॥१६॥

---

७. बिहारीलाल

उत्तर-माध्यमिक काल—रीति-युग

बिहारी का जन्म ग्वालियर के निकट बसुआ-गोविंदपुर नामक गाँव में चौबे ब्राह्मण-कुल में हुआ था। उनका जन्म-काल संवत् १६६० के लगभग और देहांत-काल संवत् १७२० के लगभग माना जाता है। कहते हैं कि उनका बचपन बुंदेलखंड में बीता और यौवन-काल मथुरा में, जहाँ उनकी ससुराल थी। पीछे वे जयपुर के महाराज जयसिंह बड़े (जिनको मिर्जा राजा जयशाह भी कहते हैं) के दरबार में चले गए और उनके दरबारी कवि हो गए। वहाँ उनका बड़ा सम्मान था।

बिहारी रीति-काल के सर्व-श्रेष्ठ कवि हैं। उनकी रचना अपने युग की पूरी निदर्शक है। सुदृढ़ मुगल-शासन के दबदबे के कारण देश में राजाओं के लिये वीरता का अवकाश न था। वे विलास की ओर झुके। कविता भी विलास की एक सामग्री हो गई। राज-दरबारों में दरबारी कवि रहते थे जिनका कार्य अपनी कविता द्वारा अपने स्वामी का मनोरंजन करना था। कविता का मुख्य विषय श्रृंगार हो गया। बिहारी की कविता भी श्रृंगार-रसात्मक है यद्यपि नीति और

वैराग्य के भी कुछ दोहे उन्होंने कहे हैं। उनकी कविता काव्य के मुक्तक भेद के अन्तर्गत होती है। मुक्तक काव्य में प्रकीर्णक अर्थात् परस्पर-असंबद्ध पद्य होते हैं। प्रत्येक पद्य एक स्वतंत्र प्रबंध होता है अर्थात् उसमें एक पूर्ण चित्र अंकित किया जाता है। बिहारी को ऐसी मुक्तक-रचना में अच्छी सफलता मिली है। छोटे से दोहे में बहुत भाव भरकर उन्होंने गागर में सागर भर दिया है। यह उनकी मुख्य विशेषता है। उनके दोहों के विषय में यह कहावत प्रसिद्ध है—

सतसैया के दोहरे, ज्यों नावक के तीर।
देखत को छोटे लगैं, घाव करैं गंभीर ॥

बिहारी बहुज्ञ थे एवं उनका अनुभव बहुत बढ़ा-चढ़ा था। उनके कहने का ढंग बड़ा ही मनोहर एवं प्रभावोत्पादक है जिससे आँखों के आगे एक चित्र सा खिँच जाता है। प्रकृति-निरीक्षण की भी कहीं कहीं अच्छी बहार है। उर्दू-कवियों की भाँति बिहारी की कविता में दूर की उड़ान खूब ली गई है। इस बात में वे उर्दू कवियों से पीछे नहीं रहते। उनकी वैराग्य और नीति-संबंधी रचना भी प्रभावशाली एवं हृदय-स्पर्शी है।

बिहारी की केवल एक ही कृति मिलती है जो बिहारी-सतसई के नाम से प्रसिद्ध है। उसमें लगभग सात सौ दोहे हैं। इसकी रचना क्रम से नहीं हुई थी। समय समय पर जो दोहे बिहारी बनाते थे वे ...

हैं। पीछे लोगों ने विषयानुसार दोहों के कई क्रम बाँधे जिनमें आजमशाही क्रम विशेष प्रसिद्ध है। जयपुर-दरबार से उन्हें प्रत्येक दोहे के लिये एक एक मोहर पुरस्कार में मिलती थी। जनता में इसका बहुत प्रचार हुआ। पचासों टीकाएँ इस पर बन चुकी हैं और संस्कृत तथा उर्दू में भी इसके पद्यात्मक अनुवाद हो चुके हैं। इसकी भाषा ब्रज है जो पूर्णतः व्याकरण-सम्मत, मँजी हुई, चलती, माधुर्य-गुण-पूर्ण और टकसाली है।

दोहे

कब कौ टेरतु दीन रट, होत न, स्याम, सहाइ।
तुमहूँ लागी, जगत-गुरु, जग-नाइक, जग-बाइ॥ १ ॥
थोरैंई गुन रीझते, बिसराई वह बानि।
तुमहूँ, कान्ह, मनौ भए आज-कालिह के दानि॥ २ ॥
करौ कुबत जगु, कुटिलता तजौं न, दीन-दयाल।
दुखी होउगे सरल हिय बसत, त्रिभंगी लाल॥ ३ ॥
कौन भाँति रहिहै बिरुद, अब देखिबी, मुरारि?
बीधे मोसौं आइकै, गीधे गीधहिँ तारि॥ ४ ॥
ज्यौं ह्वैहौं त्यौं होउँगो, हौं, हरि, अपनी चाल।
हठु न करौ, अति कठिन है मो तारिबौ गुपाल॥ ५ ॥
तौ लगु या मन-सदन मैं हरि आवैं केहिं बाट?
निपट जटे जौं लगु निपट खुलैं न कपट-कपाट॥ ६ ॥
बैठि रही अति सघन-बन पैठि सदन-तन माँहि।
देखि दुपहरी जेठ की छाँहौ चाहति छाँहि॥ ७ ॥

नाहिँन ए पावक-प्रबल लुवैँ चलैँ चहुँ पास।
मानहु बिरह बसंत के ग्रीखम लेत उसाँस ॥ ८ ॥
पावस घन अँधियार महिँ रह्यौ भेद नहिँ आनु।
रात-द्यौस जान्यौ परतु लखि चकई-चकवानु ॥ ९ ॥
अरुन-सरोरुह कर-चरन, दृग खंजन, मुख चंद।
समै आइ सुंदरि सरद काहि न करति अनंद ? ॥ १० ॥
आवत जात न जानियतु, तेजहिँ तजि सियरानु।
घरहँ जँवाई लौँ घट्यौ खरौ पूस-दिनमानु ॥ ११ ॥
लगत सुभग सीतल किरन निसि-सुख दिन अवगाहि।
माह ससी-भ्रम सूर त्यौँ रहति चकोरी चाहि ॥ १२ ॥
चुवतु स्वेद मकरंद-कन, तरु तरु तर बिरमाइ।
आवतु दच्छिन देस तैँ थक्यौ बटोही बाइ ॥ १३ ॥
रुक्यौ साँकुरे कुंज-मग, करत झाँझि झकुरात।
मंद मंद मारुत-तुरँग खूँदत, आवत जात ॥ १४ ॥
लिखन बैठि जाकी सबी गहि गहि गरब गरूर।
भए न केते जगत के चतुर चितेरे कूर ? ॥ १५ ॥
कहा कुसुम, कह कौमुदी, कितक आरसी-जोति ?
जाकी उजराई लखे आँखि ऊजरी होति ॥ १६ ॥
वाहि लखे लोइन लगै कौन जुवति की जोति ?
जाकैँ तन की छाँह ढिग जोन्ह छाँह सी होति ॥ १७ ॥
अंग अंग छबि की लपट उपटति जाति अछेह।
खरी पातरीऊ तऊ लगै भरी सी देह ॥ १८ ॥

पग पग मग अगमन परत चरन-अरुन-दुति भूल ।
ठौर ठौर लखियत उठे दुपहरिया के फूल ॥ १९ ॥
छाले परिबे के डरनु सकै न हाथ छुवाइ ।
झझकत हियैं गुलाब के झँवा झँवैयत पाइ ॥ २० ॥
पाइ महावर दैन कौं नाइनि बैठी आइ ।
फिरि फिरि जानि महावरी एँड़ी मींड़त जाइ ॥ २१ ॥
भूखन-भार सम्हारिहै क्यौं इहिं तन सुकुमार ? ।
सूधे पाइ न धर परैं सोभा हीं कैं भार ॥ २२ ॥
मानहु बिधि तन-अच्छ-छबि स्वच्छ राखिबे काज ।
दृग-पग पोंछन कौं कियौ भूखन पायंदाज ॥ २३ ॥
सूर उदित हू मुदित मन मुख-सुखमा की ओर ।
चितै रहत चहुँ ओर तैं निहचल चखनु चकोर ॥ २४ ॥
छिप्यौ छबीलौ मुँह लसै नीलैं अंचर-चीर ।
मनो कलानिधि झलमलै कालिंदी कैं नीर ॥ २५ ॥
बेसर-मोती-दुति-झलक परी अधर पैं आइ ।
चूनो होइ न, चतुर तिय, क्यौं पट पोंछ्यौ जाइ ? ॥ २६ ॥
लोने मुँह दीठि न लगै, यौं कहि दीनौ ईठि ।
दूनी ह्वै लागन लगी दियैं दिठौना डीठि ॥ २७ ॥
पिय तिय सौं हँसिकै कह्यौ, लखैं डिठौना दीन्ह ।
चंद-मुखी, मुख-चंद तैं भलो चंद सम कीन्ह ॥ २८ ॥
हौं रीझी, लखि रीझिहौ छबिहिं, छबीले लाल ।
सोनजुही सी होत दुति मिलत मालती-माल ॥ २९ ॥

मोहिँ भरोसौ रीझिहै उझकि झाँकि इक बार।
रूप रिझावनहारु वह, ए नैना रिझवार॥ ३० ॥
नाचि अचानक ही उठे बिनु पावस बन मोर।
जानति हौं नंदित करी इहिँ दिसि नंद-किसोर॥ ३१ ॥
लटकि लटकि लटकत चलत, डटत मुकट की छाँहि।
चटक-भर्‌यौ नट मिलि गयौ अटक भटक बन माँहि॥ ३२ ॥
बतरस-लालच लाल की मुरली धरी लुकाइ।
सौंह करै, भौंहनु हँसै, दैन कहै, नटि जाइ॥ ३३ ॥
दृग उरझत, टूटत कुटुम, जुरत चतुर-चित प्रीति।
परति गाँठ दुरजन-हियै, दई, नई यह रीति॥ ३४ ॥
त्यौं-त्यौं प्यासेई रहत, ज्यौं-ज्यौं पियत अघाइ।
सगुन सलोने रूप की जु न चख-तृखा बुझाइ॥ ३५ ॥
इन दुखियाँ अँखियाँनु कौं सुखु सिरज्यौई नाहिँ।
देखत बनै न देखतैँ, अनदेखैँ अकुलाहिँ॥ ३६ ॥
कीन्हे हू कोरिक जतन अब कहि काढ़ै कौनु?
भो मनमोहन-रूप मिलि पानी मैँ कौ लौनु॥ ३७ ॥
लाल, तिहारे रूप की, कहौ, रीति यह कौन?
जासौं लागत पलक दृग, लागत पलक पलौ न॥ ३८ ॥
नैना नैकु न मानहीँ, कितौ कह्यौ समुझाइ।
तन-मन हारेहू हँसै, तिनसौँ कहा बसाइ?॥ ३९ ॥
चलत घैर घर घर, तऊ घरी न घर ठहराति।
समुझि उहीँ घर कौ चलै, भूलि उहीँ घर जाति॥ ४० ॥

फिरि फिरि बूझति है, कहा कह्यौ साँवरे-गात ?
कहा करत देखे कहाँ, अली, चली क्यौं बात ? ॥ ४१ ॥
नेहु न, नैनन कौं कछू उपजी बड़ी बलाइ।
नीर भरे नित-प्रति रहैं, तऊ न प्यास बुझाइ ॥ ४२ ॥
सखी सिखावति मान-बिधि, सैननि बरजति बाल।
हरुए कहि, मो हीय मैं बसत बिहारीलाल ॥ ४३ ॥
ललन-चलनु सुनि पलन मैं अँसुवाँ झलके आइ।
भई लखाइ न सखिन हू झूटे ही जमुहाइ ॥ ४४ ॥
चलत चलत लौं ले चले सब सुख संग लगाइ।
ग्रीखम-बासर सिसिर-निसि प्यौ मो पास बसाइ ॥ ४५ ॥
हौं ही बौरी बिरह बस, कै बौरौ सब गाँउ ?
कहा जानि ए कहत हैं ससिहिँ सीतकर नाँउ ॥ ४६ ॥
देखौं जागत, वैसियै साँकर लगी कपाट।
कित ह्वै आवत, जात भजि को जानै किहिँ बाट ?॥ ४७ ॥
बाम बाँह फरकति मिलै जौ हरि जीवन-मूरि।
तौ तोही सौं भैंटिहौं राखि दाहिनी दूरि ॥ ४८ ॥
बिरह-बिपति-दिनु परत ही तजे सबै सुख अंग।
रहि अबलौंब दुखौ भए चलाचलै जिय संग ॥ ४९ ॥
अंत मरैंगे, चलि जरैं चढ़ि पलास की डार।
फिरि न मरे मिलिहैं, अली, ए निरधूम अँगार ॥ ५० ॥
धुरवाँ होहिँ न, अलि, उठैं धुवाँ धरनि चहुँ कोद।
जारत आवत जगत कौं पावस-प्रथम-पयोद ॥ ५१ ॥

तिय तरसौँहैं मन किए, करि सरसौँहैं नेह।
धर परसौँहैं ह्वै रहे झर बरसौँहैं मेह ॥ ५२ ॥
बिरह जरी लखि जीगननु कह्यौ न उहि केहि बार।
अरी, आउ भजि भीतरैं, बरसत आजु अँगार ॥ ५३ ॥
पलनु प्रगटि, बरुनीनु बढ़ि, नहिँ कपोल ठहरात।
अँसुवाँ परि छतियाँ छिनकु,छनछनाइ छिपि जात ॥ ५४ ॥
नित संसौ, हंसौ बचत मानहुँ इहिँ अनुमानु।
बिरह-अगिनि लपटनि सकति-झपटि न मीचु-सिचानु ॥५५॥
बिरह-बिकल बिनही लिखी पाती दई पठाइ।
आँक-बिहूनीयौ सुचित सूनैं बाँचति जाइ ॥ ५६ ॥
स्याम सुरति करि राधिका तकति तरुनिजा-तीरु।
अँसुवन करति तरौंस कौ खिनकु खरौंहौ नीरु ॥ ५७ ॥
गोपिन कैं अँसुवन भरी, सदा असोस अपार।
डगर डगर नै ह्वै रही अगर-बगर कै बार ॥ ५८ ॥
जौ वाकै तन की दसा देख्यौ चाहतु आप।
तौ, बलि, नैंक बिलोकियै चलि अचकाँ चुपचाप॥ ५९ ॥
नेकु न झुरसी बिरह-झुर नेह-लता कुम्हिलाति।
नितु नितु होति हरी हरी, खरी झालरति जाति ॥ ६० ॥
अजौँ न आए सहज रँग बिरह-दूबरे गात।
अबहीं कहा चलाइयति, ललन, चलन की बात ?॥ ६१ ॥
बाल-बेलि सूखी सुखद इहिँ रूखी रुख घाम।
फेरि डहडही कीजियै सुरस सींचि, घनस्याम ॥ ६२ ॥

लग्यौ सुमन, ह्वैहै सफल, आतप-रोस निवारि।
बारी, बारी आपनी सींचि सुहृदता-बारि ॥ ६३ ॥
नहिँ परागु, नहिँ मधुर मधु, नहिँ बिकासु इहिँ काल।
अली कली ही सौँ बँध्यौ, आगे कवन हवाल ! ॥ ६४ ॥
सघन कुंज छाया सुखद, सीतल सुरभि समीर।
मनु ह्वै जात अजौँ वहै वा जमुना कैँ तीर ॥ ६५ ॥
जहाँ जहाँ ठाढ़ो लख्यो स्याम सुभग सिरमौर।
उनहूँ बिन छिन गहि रहत दृगनि अजहुँ वहि ठौर ॥ ६६ ॥
गोधन, तू हरख्यौ हियैँ, घरि इक लेहु पुजाइ।
समुझि परैगी सीस पर परत पसुन कै पाइ ॥ ६७ ॥
अरे, परेखौ कौ करै, तुँही बिलोकि बिचारि।
किहिँ नर, किहिँ सर राखियै खरैँ बढ़ैँ परिपारि ॥ ६८ ॥
पटु पाँखैँ, भखु काँकरैँ, सदा परेई संग।
सुखी परेवा जगत मैँ एकै तुहीँ बिहंग ॥ ६९ ॥
तंत्री-नाद, कवित्त-रस, सरस राग, रति-रंग।
अनबूड़े बूड़े, तरे जे बूड़े सब अंग ॥ ७० ॥
जात जात बितु होत है ज्यौँ जिय मैँ संतोख।
होत होत जो होइ, तौ होइ घरी मैँ मोख ॥ ७१ ॥

अर्वाचीन-खंड

१. अयोध्यासिंह उपाध्याय

२. जगन्नाथदास 'रत्नाकर'

३. रामचंद्र शुक्ल

४. मैथिलीशरण गुप्त

५. जयशंकर 'प्रसाद'

६. रामनरेश त्रिपाठी

७. सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला'

८. सुमित्रानंदन पंत

१. अयोध्यासिंह उपाध्याय

जन्मकाल——सं० १९२२

अयोध्यासिंह उपाध्याय सनाढ्य ब्राह्मण हैं। इनका जन्म आजमगढ़ जिले के निजामाबाद नामक गाँव में संवत् १९२२ में हुआ। ये पहले कुछ दिनों तक अध्यापक रहे और फिर कानूनगोई की परीक्षा पास करके संवत् १९४७ में कानूनगो हो गए। उन्नति करते करते ये सदर-कानूनगो के पद पर पहुँच गए जिस पर कोई बीस वर्ष तक कार्य करके संवत् १९८० में इन्होंने अवसर ग्रहण किया। उस वर्ष महामना पं० मदनमोहन मालवीय के अनुरोध से ये हिंदू-विश्व-विद्यालय में हिंदी-अध्यापक होकर चले आए जहाँ अभी तक कार्य कर रहे हैं। ये सरल-हृदय तथा उदार विचारों के सज्जन हैं। समाज-सेवा का भाव इनमें खूब भरा है। इनका कविता का नाम हरि-औध है। ये हिंदी के अतिरिक्त संस्कृत, उर्दू और फारसी के अच्छे विद्वान् हैं और अँगरेजी भी जानते हैं। संवत् १९८० में दिल्ली में होनेवाले चतुर्दश हिंदी-साहित्य-सम्मेलन का सभापति बनाकर हिंदी-संसार ने इनका समुचित समादर किया।

उपाध्यायजी हिंदी में कवि-सम्राट् माने जाते हैं। इन्होंने सबसे पहले हिंदी में अतुकांत महाकाव्य की रचना की और इसमें अच्छी सफलता प्राप्त की। इसका नाम प्रिय-प्रवास है। यह हिंदी का एक श्रेष्ठ महाकाव्य है। यह अतुकांत वर्णवृत्तों में लिखा गया है। हिंदी में अतुकांत कविता की इतनी बड़ी सफल मौलिक रचना अभी तक यही हुई है। इस काव्य में यशोदा, गोप, गोपिकाओं और राधा के कृष्ण-प्रेम का बड़ा ही भावपूर्ण वर्णन किया गया है। साथ ही समाज-सेवा के उच्च आदर्श खड़े करने के लिये श्रीकृष्ण का लोक-रक्षक और लोक-संग्रह-कारी रूप भुलाया नहीं गया है। यह काव्य संस्कृत-गर्भित खड़ी बोली में लिखा गया है जिससे कहीं-कहीं भाव-ग्रहण करने में कठिनता होती है। अनेक स्थलों पर भावों का सौंदर्य भाषा के शब्दा-डंबर से दब गया है।

अपनी रचनाओं में समाज-सेवा की भावना को इन्होंने सदैव प्रमुख स्थान दिया है। उपाध्यायजी ने ही सबसे पहले ठेठ हिंदी में गद्य-रचना भी की। आजकल आप कुछ वर्षों से बोलचाल की और मुहावरेदार भाषा में रचना करते हैं। इस प्रकार उपाध्यायजी ने हिंदी में कई नवीन प्रयोग किए और उनमें सफलता भी पाई। इनकी एक विशेषता यह है कि ये कठिन से कठिन और सरल से सरल दोनों प्रकार की गद्य एवं पद्य-रचना करने में सिद्धहस्त हैं।

उपाध्यायजी की अन्य कृतियाँ निम्नलिखित हैं—

(१) बोलचाल, (२) चोखे चौपदे, (३) चुभते चौपदे—ये बोलचाल की अर्थात् ठेठ हिंदी की रचनाएँ हैं। इनका छंद उर्दू ढंग का है और प्रत्येक पद्य में एकाधिक मुहावरे भरने का प्रयत्न किया गया है। भाव सुंदर हैं, भाषा सुबोध है पर जान-बूझकर मुहावरे भरने का प्रयत्न करने के कारण स्वाभाविकता नहीं रह गई है।

(४) ठेठ हिंदी का ठाठ या देवबाला, (५) अधखिला फूल—ये दोनों उपन्यास के ढंग की कथात्मक गद्य-रचनाएँ हैं जो बोल-चाल की ठेठ हिंदी में लिखी गई हैं। इनमें लेखक को काफी सफलता मिली है परंतु इसमें संदेह है कि ये रचनाएँ हिंदी-लेखकों के लिये कभी आदर्श हो सकेँगी। ठेठ हिंदी का ठाठ बहुत दिनों से इंडियन सिविल सर्विस की परीक्षाओं का पाठ्यग्रंथ है।

(६) वेनिस का बाँका—संस्कृत-गर्भित हिंदी-गद्य में अँगरेजी से अनूदित, (७) काव्योपवन, (८) पद्य-प्रमोद—ये उपाध्यायजी की फुटकर कविताओं के संग्रह हैं।

रास-क्रीड़ा

भू में रमी शरद की कमनीयता थी,
नीला अनंत नभ निर्मल हो गया था।
थी छा गई ककुभ में अमिता सिताभा,
उत्फुल्ल सी प्रकृति थी प्रतिभात होती॥

होता सतोगुण-प्रसार दिगंत में है,
है विश्व-मध्य सितता अभिवृद्धि पाती—
सारे स-नेत्र जन को यह थे बताते,
कांतार-काश विकसे सित पुष्प द्वारा ॥
शोभा-निकेत अति उज्ज्वल कांतिशाली,
था वारि-बिन्दु जिसका नव मौक्तिकों सा।
स्वच्छोदका, विपुल-मंजुल-बीचि-शीला,
थी मंद-मंद बहती सरितातिभव्या ॥
उच्छ्वास था न अब प्लावन-कूल-कारी;
था वेग भी न अति उत्कट कर्णभेदी;
आवर्त्त-जाल अब था न धरा-विलोपी;
धीरा, प्रशान्त, विमलाम्बुवती, नदी थी ॥
था मेघ-शून्य नभ उज्ज्वल कान्तिवाला;
मालिन्य-हीन मुदिता नव दिग्वधू थी;
थी मेदिनी रहित-कर्दम, स्वच्छ, रम्या;
सर्वत्र धौत जल-निर्मलता लसी थी ॥
कांतार में, सरित-तीर, सुगह्वरों में
सोते अनेक बहते जल स्वच्छ के थे।
होती अजस्र उनमें ध्वनि थी अनूठी,
वे थे मनो शरद की कल-कीर्त्ति गाते ॥
नाना नवागत-विहंग-वरूथ द्वारा,
वापी तड़ाग-सर शोभित हो रहे थे;

फूले-सरोज-मिस हर्षित-लोचनों से
वे हो विमुग्ध जिनको अवलोकते थे ॥
नाना-सरोवर-खिले नव पंकजों को
ले अंक में विलसते, मन मोहते थे।
मानों पसार अपने शतशः करों को
वे माँगते शरद से सु-विभूतियाँ थे ॥
प्यारे सु-चित्रित सितासित-रंग-वाले
थे दीखते चपल-खञ्जन प्रांतरों में।
बैठी मनोरम सरों पर सोहती थी
आई स-बाम ब्रज-मध्य मराल-माला ॥
प्रायः निरंबु कर पावस नीरदों को,
पानी सुखा प्रचुर-प्रान्तर औ' पथों का।
न्यारे-असीम-नभ में, मुदिता मही में,
व्यापी नवोदित-अगस्त-नई-विभा थी ॥
था कार-मास, निशि थी अति-रम्य-राका,
पूरी कला-सहित शोभित चंद्रमा था।
ज्योतिर्मयी-परम, सर्व-दिशा बना के
सौंदर्य साथ लसती छिति में सिता थी ॥
शोभा-मयी शरद की ऋतु पा दिशा में,
निर्मेघ-व्योम-तल में, सु-वसुंधरा में,
होती सु-संगति अतीव मनोहरा थी
न्यारी-कला-तुहिनदीधिति-स्वच्छता की ॥

स्नात से सकल पादप चंद्रिका से,
प्रत्येक पल्लव प्रभा-मय दीखता था,
सारी लता, सकल बेलि, समस्त शाखा,
डूबी विचित्रतर-निर्मल-ज्योति में थी।
जो मेदिनी रजत-पत्र-मयी हुई थी,
किंवा पयोधि-पय से यदि प्लाविता थी,—
तो सर्व पत्र पर पादप-बेलियों के
पूरी हुई प्रथित-पारद-प्रक्रिया थी।
था मंद मंद हँसता विधु व्योम-शोभी,
होती प्रवाहित धरातल में सुधा थी,
जो पा प्रवेश दृग में प्रिय-अंशु द्वारा
थी मत्त-प्राय करती मन मानवों का।
अत्युज्ज्वला पहन तारक-मुक्त-माला,
दिव्यांबरा बन अलौकिक-कौमुदी से,
भावों भरी, परम मुग्धकरी हुई थी
राका-कलाकर-मुखी रजनी-पुरंध्री।
पूरी समुज्ज्वल हुई सित-यामिनी थी,
होता प्रतीत रवि सा रजनी-पती था।
पीती कभी परम मुग्ध बनी सुधा थी,
होती कभी चकित थी चतुरा चकोरी॥
ले पुष्प-सौरभ तथा पय-सीकरों को
थी मंद मंद बहती पवनातिप्यारी,

जो थी मनोरम अतीव, प्रफुल्ल-कारी,
हो सिक्त सुंदर-सुधा रजनीश द्वारा।
चंद्रोज्ज्वला, रजत-पत्र-वती, मनोज्ञा,
शांता, नितांत सरसा, सु-पियूष-सिक्ता,
शुभ्रांगिनी, सु-पवना, सु-जला, सु-कूला,
सत्पुष्पसौरभ-वती वन-मेदिनी थी॥
ऐसी अलौकिक-अपूर्व-वसुंधरा में
ऐसे मनोरम-अलंकृत-काल को पा।
वंशी अचानक बजी अति ही रसीली
आनंद-कंद व्रज-गोप-गणाग्रणी की॥
भावों भरा मुरलिका-स्वर मुग्ध-कारी
आदौ हुआ मरुत साथ दिगंत-व्यापी।
पीछे पड़ा श्रवण में बहु भावुकों के।
पीयूष के प्रमुद-वर्द्धक-बिंदुओं सा॥
पूरी विमोहित हुईं यदि गोपिकाएँ,
तो गोप-वृंद अति मुग्ध हुए स्वरों से।
फैलीं विनोद-लहरें व्रज-मेदिनी में,
आनंद-अंकुर उगा उर में जनों के॥
वंशी-निनाद सुन, त्याग निकेतनों को,
दौड़े समस्त स-विनोद उमंग-डूबे
गोपी असंख्य, बहु गोप, अनेक बाला,
आईं विहार-रुचि से वन-मेदिनीमें॥

हो हो सु-वादित सदंगुलि-श्याम-द्वारा
कांतार में मुरलिका जब गूँजती थी,
तो पत्र पत्र पर था कल नृत्य होता
रागांगना-विधु-मुखी चपलांगिनी का ॥
भू-व्योम-व्यापित कलाधर की सुधा में,
न्यारी सुधा मिलित हो मुरली-स्वरों की
धारा अपूर्व-रस की महि में बहा के
सर्वत्र थी अति-अलौकिकता लसाती ॥
उत्फुल्ल थे विटप-वृंद विशेष होते,
माधुर्य्य था विपुल पुष्प-समूह पाता;
होती विकाश-मय मंजुल-वेलियाँ थीं,
लालित्य-धाम बनती उलही-लता थी ॥
क्रीड़ा-मयी, ध्वनि-मयी, कल-ज्योति-वाली
धारा असेत-सरि की अति तद्गता थी।
थी नाचती, उमगती, थिर भूरि होती,
उल्लासिता, बिहँसितातिप्रफुल्लिता थी ॥
पाई अपूर्व थिरता मृदु वायु ने थी,
मानो अचंचल विमोहित हो बनी थी।
प्यारे-स्वरों-मुरलि संग प्रमोदिता हो
माधुर्य-साथ हँसती सित-चंद्रिका थी ॥
सत्कण्ठ-साथ नर-नारि-समूह-गाना
उत्कण्ठ था न किस को महि में बनाता?

तानें उमंगित-करी कल-कण्ठ-जाता
तंत्री रहीं जन-उरस्थल की बजाती ॥
होती प्रतीति उर में उस काल यों थी
है मंत्र साथ मुरली अभिमंत्रिता सी ।
उन्माद-मोहन-वशीकरणादिकों के
हैं मंजु धाम उसके ऋजु रंध्र सातों ॥
वामा-सुतों-सँग मनोरम राग गा गा,
ला ला स्वरूप उनका जन नेत्र-आगे,
ले ले अनेक उर-वेधक चारु तानें,
कीं श्याम ने परम मुग्धकरी क्रियाएँ ॥
पीछे अचानक रुकीं वर-वेणु-तानें,
चावों समेत सबकी सुधि लौट आई ;
आनंद-नाद-मय कंठ सहस्र द्वारा।
हो हो पड़ीं ध्वनित बार कई दिशाएँ ॥
माधो विलोक सबको मुद-मत्त बोले—
देखो, छटा विपिन की कल-कौमुदी में ;
आना करो सफल कानन में गृहों से,
शोभामयी प्रकृति की गरिमा विलोको ॥
बीसों विचित्र दल केवल नारि का था,
यों ही अनेक दल केवल था नरों का।
नारी-नरों-मिलित-यूथ रहा सहस्रों,
उत्कंठ हो सब उठा सुन श्याम बातें ॥

सानंद सर्व-दल कानन-मध्य फैला,
होने लगा सुखित दृश्य विलोक नाना,
देने लगा उर कभी नवला लता को,
गाने लगा कलित कीर्त्ति कभी कला की॥
विच्छिन्न हो स्वदल से बहु गोप-गोपी
स्वच्छंद थीं विचरतीं रुचिर स्थलों में;
या बैठ चंद्र-कर-धौत-धरातलों में
वे थीं स-मोद करतीं मधु-सिक्त बातें॥
कोई प्रफुल्ल लतिका कर से हिलाके
वर्षा-प्रसून करती प्रिय-अंक में थी।
कोई स-पल्लव स-पुष्प मनोज्ञ शाखा
था प्रेम साथ रखता कर-प्रेमिका में॥
आ मंद मंद मनमोहन मंडली में
बातें बड़ी सरस थे सबको सुनाते;
भावों समेत स्वर में मृदुता मिलाके,
या थे महा-मधु-मयी मुरली बजाते॥
धारा-मयी अमल श्यामल अर्कजा में,
छाया स-तारक विलोक छपा-पती को।
थे भाखते—खचित-रत्न असेत साटी
है पैन्ह ली प्रमुदिता वनभू-वधू ने॥
ज्योतिर्मयी, विकसिता, हसिता लता को
लालित्य-साथ लपटी तरु से दिखाके

थे भाखते—पति-रता-अवलंबिता का
कैसा प्रमोदमय जीवन है दिखाता ॥
आलोक से लसित पादप-वृंद नीचे
छाए हुए तिमिर को कर से दिखाके
थे यों मुकुंद कहते,—मलिनांतरों का
है बाह्य रूप बहु उज्ज्वल दृष्टि आता ॥
ऐसे मनोरम-प्रभामय-काल में भी
म्लाना नितांत अवलोक सरोजिनी को
थे यों ब्रजेंदु कहते,—ललना सती को
स्वामी बिना सब तमो-मय है दिखाता ॥
फूले हुए कुमुद देख सरोवरों में ।
माधो सु-उक्ति यह थे सबको सुनाते—
उत्कर्ष देख निज-अंक-पले शशी का
है वारि-राशि-मिस कैरव हृष्ट होता ॥
फैली विलोक सब ओर मयंक-आभा
आनंद-साथ कहते यह थे बिहारी,—
है कीर्त्ति, भू-ककुभ में अति कांत छाई,
प्रत्येक धूलि-कण-रंजन-कारिणी की ॥
फूलों-दलों पर विराजित ओस-बूँदें ।
जो श्याम को दमकती द्युति से दिखातीं
तो वे समोद कहते,—वन-देवियों ने
की है कला पर निछावर मुक्त-माला ॥

आ-पाद-मस्तक खिले कमनीय पौधे
　　जो देखते मुदित होकर तो बताते,—
होके सु-रंजित सुधा-निधि की कला से
　　फूले नहीं नवल पादप हैं समाते ॥
यों थे कला-कर दिखा कहते बिहारी,—
　　है स्वर्ण-मेरु यह मेदिनि-माधुरी का,
है कल्प-पादप अनूपम तारकों का,
　　आनंद-अंबुधि-बिचित्र-महा-मणी है ॥
है ज्योति-आकर, पयोधर है सुधा का,
　　शोभा-निकेत प्रिय वल्लभ है निशा का,
है भाल का प्रकृति के अभिराम भूषा,
　　सर्वस्व है परम-रूपवती कला का ॥
जैसी मनोहर हुई यह यामिनी थी
　　वैसी कभी न जन-लोचन ने विलोकी ;
जैसी बही रस-सरी इस शर्वरी में
　　वैसी कभी न ब्रज-मेदिनि में बही थी ॥
जैसी बजी मधुर बीन, मृदंग, वंशी;
　　जैसा हुआ रुचिर नृत्य, विचित्र गाना ;
जैसा बँधा इस निशीथिनि में समाँ था;
　　होगी न कोटिमुख से उसकी प्रशंसा ॥
आँखों अनूप छबि है जिसने बिलोकी,
　　वंशी-निनाद मन दे जिसने सुना है,

देखा विहार इस यामिनि में जिन्होंने,
    कैसे मुकुंद उनके उर से कढ़ेंगे ?
होके विभिन्न, रवि का कर, ताप त्यागे
    देवे मयंक-कर को तज माधुरी भी ।
तो भी नहीं ब्रज-धरा-जन के उरों से
    उत्फुल्ल मूर्त्ति मनमोहन की कढ़ेगी ॥
कुंजें वही, थल वही, यमुना वही है,
    बेलें वही, वन वही, विटपो वही है,
हैं पुष्प-पल्लव वही, ब्रज भी वही है,
    ए किंतु श्याम बिन हैं न वही जनाते ॥

---

२. जगन्नाथदास 'रत्नाकर'

जन्मकाल—सं० १९२३, मरण-काल—सं० १९८९

जगन्नाथदास 'रत्नाकर' का जन्म संवत् १६२३ में अग्रवाल वैश्य कुल में काशी में हुआ था। उनकी मृत्यु अभी हाल में ही हरिद्वार में, संवत् १६८६ ज्येष्ठ में, हुई। बी० ए० परीक्षा पास करने के उपरांत वे फारसी लेकर एम्० ए० में पढ़ते रहे पर कारण-वश एम्० ए० की परीक्षा न दे सके। कुछ समय तक उन्होंने अवागढ़ में नौकरी की और फिर अयोध्या के महाराजा के निजी सेक्रेटरी हो गए। महाराज की मृत्यु के पीछे वे महारानी के सेक्रेटरी भी बहुत दिनों तक रहे। कुछ समय से वे काशी-वास कर रहे थे। रत्नाकरजी के पिता भारतेंदु हरिश्चंद्र के मित्रों में से थे। इससे बाल्यावस्था में ही उनकी काव्य की ओर रुचि हुई और वे छोटी अवस्था से ही कविता करने लगे। प्राचीन हिंदी काव्यों का उन्होंने अच्छा अध्ययन किया था और अनेक दुर्लभ काव्यों को संपादित करके प्रकाशित भी करवाया। कोई छः वर्षों से वे सूरसागर के संपादन का कार्य कर रहे थे, जो उनकी मृत्यु से अधूरा रह गया। सं० १६८८ में वे कलकत्ते के बीसवें हिंदी-साहित्य-सम्मेलन के सभापति बनाए गए।

रत्नाकरजी की कविता व्रजभाषा में है। इस खड़ी बोली के युग में उन्होंने व्रजभाषा में काव्य-रचना करके सफलता और ख्याति प्राप्त की। व्रजभाषा के आधुनिक कवियों में उनका स्थान सर्वोच्च माना जाता है। उनकी कविता को पढ़कर देव और पद्माकर की याद आ जाती है। उसमें ओज की अच्छी मात्रा रहती है। प्राकृतिक दृश्यों का स्थान स्थान पर बड़ा सुंदर वर्णन हुआ है। उनकी भाषा चुस्त, गठी हुई और जोशीली है। व्रजभाषा-कविता की परंपरा का उनके साथ अंत हो गया।

रत्नाकरजी की रचनाएँ निम्नलिखित हैं—

(१) गंगावतरण—इसमें राजा सगर के सौ पुत्रों के कपिल द्वारा भस्म होने, अंशुमान् आदि राजाओं के गंगा को पृथ्वी पर लाने तथा अंत में भगीरथ द्वारा गंगा के पृथ्वी पर आने और सगर-पुत्रों के उद्धार की कथा है। ब्रह्मा के कमंडलु से उतरने और समुद्र तक गंगा के पहुँचने के बीच में प्रकृति-वर्णन भी हुआ है जो दर्शनीय है।

(२) हरिश्चंद्र काव्य—इसमें सत्यवादी राजा हरिश्चंद्र की कथा वर्णित है। श्मशान के दृश्य का वर्णन अच्छा हुआ है।

(३) उद्धव-शतक—इसमें उद्धव और गोपी-विरह तथा भ्रमरगीत-विषयक लगभग सौ कवित्त हैं।

(४) बिहारी-रत्नाकर—यह बिहारी-सतसई का सुसंपादित सटीक संस्करण है।

गंगावतरण

तब नृप करि आचमन मारजन सुचि-रुचि-कारी।
प्रानायाम पुनीत साधि चित-वृत्ति सुधारी॥
बहुरि अंजली बाँधि ध्यान बिधि कौ बिधिवत गहि।
माँगी गंग उमंग-सहित पूरब प्रसंग कहि॥ १॥

बद्ध-अंजली देखि भूप बिनवत मृदु बानी।
मुसकाने बिधि आनि चित्त "चिल्लू भर पानी"॥
लागे करन बिचार बहुरि जग-हित-अनहित पर।
पाप-पुन्य-फल-उचित-लाभ-मर्याद खचित पर॥ २॥

पुनि गुनि बर बरदान आपनौ औ संकर कौ।
सगर-सुतनि कौ साप-ताप तप नर-पति बर कौ॥
सुमिरि अखिल-ब्रह्मांड-नाथ मन माथ नवायौ।
सब संसय करि दूरि गंग दैबौ ठिक ठायौ॥ ३॥

किए सजग दिग-पाल ब्याल-पति हृदय दृढ़ायौ।
कोल कमठ पुचकारि भूधरनि धीर धरायौ॥
स्वस्ति-मंत्र पढ़ि तानि तंत्र मुद-मंगल-कारी।
लियौ कमंडल हाथ चतुर चतुरानन-धारी॥ ४॥

इत सुरसरि की धाक धमकि त्रिभुवन भय-पागे।
सकल सुरासुर बिकल बिलोकन आतुर लागे॥
दहलि दसौं दिग-पाल बिकल-चित इत-उत धावत।
दिग्गज दिग दंतनि दबोचि दृग भमरि भ्रमावत॥ ५॥

नभ-मंडल थहरान भानु-रथ थकित भयौ छन।
चंद चकित रहि गयौ सहित सिगरे तारागन॥
पौन रह्यौ तजि गौन गह्यौ सब भौन सनासन।
सोचत सबै सकाइ कहा करिहै कमलासन॥ ६॥

बिंध्य-हिमाचल-मलय-मेरु-मंदर-हिय हहरे।
ढहरे जदपि पषान ठमकि तउ ठामहिँ ठहरे॥
थहरे गहरे सिंधु पर्ब बिनहूँ लुरि लहरे।
पै उठि लहर-समूह नैँकु इत उत नहिँ ढहरे॥ ७॥

गंग कह्यौ उर भरि उमंग तौ गंग सही मैँ।
निज तरंग-बल जौ हर-गिरि हर-संग मही मैँ॥
लै स-बेग-बिक्रम पताल-पुरि तुरत सिधाऊँ।
ब्रह्म-लोक कौँ बहुरि पलटि कंदुक-इव आऊँ॥ ८॥

सिव सुजान यह जानि तानि भौँहनि मन माषे।
बाढ़ी-गंग-उमंग-भंग पर उर अभिलाषे॥
भए सँभरि सन्नद्ध भंग कैँ रंग रँगाए।
अति दृढ़ दीरघ सृंग देखि तापर चलि आए॥ ९॥

बाघंबर कौ कलित कच्छ कटि-तट सौँ नाध्यौ।
सेसनाग कौ नागबंध तापर कसि बाँध्यौ॥
व्याल-माल सौँ भाल बाल-चंदहिँ दृढ़ कीन्यौ।
जटा-जाल कौ झाल-ब्यूह गह्वर करि लीन्यौ॥१०॥

मुंड-माल यज्ञोपवीत कटि-तट अटकाए।
गाड़ि सूल सृंगी डमरू तापर लटकाए॥

बर बाहँनि करि फेरि चाँपि चटकाइ आँगुरिनि ।
बच्छस्थल उमगाइ ग्रीव उचकाइ चाय भिनि ॥११॥
तमकि ताकि भुज-दंड चंड फरकत चित चोपे ।
महि दबाइ दुहुँ पाय कछुक अंतर सौं रोपे ॥
मनु बल-बिक्रम-जुगल-खंभ जग-थंभन-हारे ।
धीर-धरा पर अति गँभीर-दृढ़ता-जुत धारे ॥१२॥
जुगल कंध बल-संध हुमकि हुमसाइ उचाए ।
दोउ भुज-दंड उदंड तोलि ताने तमकाए ॥
कर जमाइ करिहायँ नैन नभ-ओर लगाए ।
गंगागम की बाट लगे जोहन हर ठाए ॥१३॥
बल बिक्रम पौरुष अपार दरसत अँग अँग तैं ।
बीर रौद्र दोउ रस उदार झलकत रँग रँग तैं ॥
मनहु भानु-सितभानु-किरन-बिरचित पट बर की ।
झलक दुरंगी देति देह-द्युति सिवसंकर की ॥१४॥
बचन-बद्ध त्रिपुरारि ताकि सन्नद्ध निहारत ।
दियौ ढारि बिधि गंग-बारि मंगल उच्चारत ॥
चली बिपुल-बल-बेग-बलित बाढ़ति ब्रह्मद्रव ।
भरति भुवन भय-भार मचावति अखिल उपद्रव ॥१५॥
निकसि कमंडल तैं उमंडि नभ-मंडल-खंडति ।
धाई धार अपार बेग सौं बायु बिहंडति ॥
भयौ घोर अति सब्द धमक सौं त्रिभुवन तर्जे ।
महामेघ मिलि मनहु एक संगहिँ सब गर्जे ॥१६॥

भरके भानु-तुरंग चमकि चलि मग सौँ सरके।
हरके बाहन रुकत नैँकु नहिँ बिधि-हरि-हर के ॥
दिग्गज करि चिक्कार नैन फेरत भय-थरके।
धुनि प्रतिधुनि सौँ धमकि धराधर के उर धरके ॥१७॥
कढ़ि कढ़ि गृह सौँ बिबुध बिबिध जाननि पर चढ़ि चढ़ि।
पढ़ि पढ़ि मंगल-पाठ लखत कौतुक कछु बढ़ि बढ़ि ॥
सुर-सुंदरी ससंक बंक दीरघ दृग कीने।
लगीँ मनावन सुकृत हाथ काननि पर दीने ॥१८॥
निज दरेर सौँ पौन-पटल फारति फहरावति।
सुर-पुर के अति सघन घोर घन घसि घहरावति ॥
चली धार धुधकारि धरा-दिसि काटति कावा।
सगर-सुतनि के पाप-ताप पर बोलति धावा ॥१९॥
बिपुल बेग सौँ कबहुँ उमगि आगे कौँ धावति।
सौ सौ जोजन लौँ सुढार ढरतिहिँ चलि आवति ॥
फटिकसिला के बर बिसाल मन बिस्मय बोहत।
मनहु बिसद छद अनाधार अंबर मैँ सोहत ॥२०॥
स्वाति-घटा घहराति मुक्ति-पानिप सौँ पूरी।
कैधौँ आवति झुकति सुभ्र-आभा-रुचि रूरी ॥
मीन-मकर-जलब्यालनि की चल चिलक सुहाई।
सो जनु चपला चमचमाति चंचल-छबि-छाई ॥२१॥
रुचिर रजतमय कै बितान तान्यौ अति बिस्तर।
झिरतिँ बूँद सो झिलिमिलाति मोतिनि की झालर ॥

ताके नीचैं राग-रंग के ढंग जमाए।
सुर-बनितनि के बृंद करत आनंद-बधाए ॥२२॥
बर-बिमान-गज-बाजि-चढ़े जो लखत देव-गन।
तिनके तमकत तेज दिब्य दमकत आभूषन ॥
प्रतिबिंबित जब होत परम प्रसरित प्रबाह पर।
जानि परत चहुँ ओर उए बहु बिमल बिभाकर ॥२३॥
कबहुँ सु धार अपार-बेग नीचे कौं धावै।
हरहराति लहराति सहस जोजन चलि आवै ॥
मनु बिधि चतुर किसान पौन निज मन कौ पावत।
पुन्य-खेत-उतपन्न हीर की रासि उसावत ॥२४॥
कै निज नायक बँध्यौ बिलोकत ब्याल-पास तैं।
तारनि की सेना उदंड उतरति अकास तैं ॥
कै सुर-सुमन-समूह आनि सुर-जूह जुहारत।
हर हर करि हर-सीस एक संगहि सब डारत ॥२५॥
छहरावति छबि कबहुँ कोऊ सित सघन घटा पर।
फबति फैलि जिमि जोन्ह-छटा हिम-प्रचुर-पटा पर ॥
तिहिं घन पर लहराति लुरति चपला जब चमकै।
जल-प्रतिबिंबित दीप-दाम-दीपति सी दमकै ॥२६॥
कबहुँ बायु-बल फूटि छूटि बहु बपु धरि धावै।
चहुँ दिसि तैं पुनि डटति सटति सिमटति चलि आवै ॥
मिलि मिलि द्वै द्वै चार चार सब धार सुहाई।
फिरि एकै ह्वै चलति कलित बल बेग बड़ाई ॥२७॥

जैसैं एकै रूप प्रबल माया-बस मैं परि।
बिचरत जग मैं अति अनूप बहु बिलग रूप धरि॥
पै जब ज्ञान-बिधान ईस-सनमुख लै आवै।
तब एकै ह्वै बहुरि अमित आतम-बल पावै॥२८॥
जल सौं जल टकराइ कहूँ उच्छलत उमंगत।
पुनि नीचैं गिरि गाजि चलत उत्तंग तरंगत॥
मनु कागदी कपोत गोत के गोत उड़ाए।
लरि अति ऊँचैं उलरि गोति गुथि चलत सुहाए॥२९॥
कहूँ पौन-नट निपुन गौन कौ बेग उधारत।
जल-कंदुक के बूंद पारि पुनि गहत उछारत॥
मनौ हंस-गन मगन सरद-बादर पर खेलत।
भरत भाँवरैं जुरत मुरत उलहत अवहेलत॥३०॥
कबहुँ बायु सौं बिचलि बंक-गति लहरति धावै।
मनहु सेस सित-बेस गगन तैं उतरत आवै॥
कबहुँ फेन उफनाइ आइ जल-तल पर राजै।
मनु मुकतनि की भीर छोर-निधि पर छबि छाजै॥३१॥
कबहुँ सुताड़ित ह्वै अपार-बल-धार-बेग सौं।
छुभित पौन फटि गौन करत अतिसय उदेग सौं॥
देवनि के दृढ़ जान लगत ताके झकझोरे।
कोउ आँधी के पोत होत कोउ गगन-हिँडोरे॥३२॥
उड़ति फुही की फाब फबति फहरति छबि-छाई।
ज्यौं परबत पर परत झीन बादर दरसाई॥

तरनि-किरन तापर बिचित्र बहु रंग प्रकासै।
इंद्र-धनुष की प्रभा दिव्य दसहूँ दिसि भासै ॥३३॥
मनु दिगंगना गंग न्हाइ कीन्हे निज अंगी।
नव भूषन नव-रत्न-रचित सारी सत-रंगी ॥
गंगागम-पथ माहिँ भानु कैधौं अति नीकी।
बाँधी बंदनवार बिबिध बहु पटापटी की ॥३४॥
इहिँ विधि धावति धँसति ढरति ढरकति सुख-देनी।
मनहुँ सवाँरति सुभ सुर-पुर की सुगम निसेनी ॥
बिपुल बेग बल बिक्रम कैँ ओजनि उमगाई।
हरहराति हरषाति संभु-सनमुख जब आई ॥३५॥
भई थकित छबि-छकित हेरि हर-रूप मनोहर।
है आनहि के प्रान रहे तन धरे धरोहर ॥
भयौ कोप कौ लोप चोप औरै उमगाई।
चित चिकनाई चढ़ी कढ़ी सब रोष-रुखाई ॥३६॥
छोभ-छलक है गई प्रेम की पुलक अंग मैँ।
थहरन के ढरि ढंग परे उछरति तरंग मैँ ॥
भयौ बेग उद्वेग पेँग छाती पर धरकी।
हरहरान धुनि बिघटि सुरट उघटी हर हर की ॥३७॥
भयौ हुतौ भ्रू-भंग-भाव जो भव-निदरन कौ।
तामैँ पलटि प्रभाव परयौ हिय हेरि हरन कौ ॥
प्रगटत सोइ अनुभाव भाव औरै सुखकारी।
है थाई उतसाह भयौ रति कौ संचारी ॥३८॥

कृपानिधान सुजान संभु हिय की गति जानी।
दियौ सीस पर ठाम बाम करि कै मन मानी॥
सकुचति ऐंचति अंग गंग सुख-संग लजानी।
जटा-जूट-हिम-कूट सघन बन सिमिटि समानी॥३९॥
पाइ ईस कौ सीस-परस आनँद अधिकायौ।
सोइ सुभ सुखद निवास बास करिबौ मन ठायौ॥
सीत सरस संपर्क लहत संकरहु लुभाने।
करि राखी निज अंग गंग कैं रंग भुलाने॥४०॥
बिचरन लागी गंग जटा-गह्वर-बन-बीथिनि।
लहति संभु-सामीप्य-परम-सुख दिननि निसीथिनि॥
इहिँ बिधि आनँद मैं अनेक बीते संबत्सर।
छोड़त छुटत न बनत ठनत नव नेह परस्पर॥४१॥
यह देखि दुखित भूपति भए चित चिंता प्रगटी प्रबल।
अब कीजै कौन उपाय जिहिँ सुरसरि आवै अवनि-तल॥४२॥

---

३. रामचंद्र शुक्ल

जन्म-काल--सं० १९४१

रामचंद्र शुक्ल का जन्म बस्ती जिले के अगोना नामक गाँव में संवत् १९४१ में हुआ। इन्होंने एफ़० ए० तक शिक्षा पाई और पीछे कुछ समय तक मिर्जापुर के एक स्कूल में ड्राइंग-मास्टर का काम किया। हिंदी-शब्दसागर के सहायक संपादक का काम करने के लिये संवत् १९६५ में ये काशी बुलाए गए। सभा की मुख-पत्रिका नागरी-प्रचारिणी पत्रिका का संपादन भी इन्होंने आठ-नौ वर्षों तक किया। इस समय ये काशी के हिंदू-विश्वविद्यालय में हिंदी के अध्यापक हैं। इनका स्वभाव बहुत ही सरल और निष्कपट है। सादगी, निरभिमानिता और आडंबर-हीनता की ये मूर्त्ति ही हैं।

शुक्लजी हिंदी के एक अनुपम रत्न हैं। इनकी विद्वत्ता अगाध है। इन्होंने जिस विषय पर लिखा है, पूर्ण अधिकार के साथ लिखा है और दूसरों के लिये कुछ नहीं छोड़ा है। हिंदी-शब्दसागर की सफलता का अधिकांश श्रेय शुक्लजी को ही है। पुस्तक-पठन का इन्हें व्यसन सा है। बचपन से ही प्राकृतिक दृश्यों के प्रति इन्हें बहुत प्रेम है। इनकी कविता में प्रकृति का वर्णन बड़ा मनोहर और स्वाभाविक होता है। करुण-रस लिखने में ये सिद्धहस्त हैं।

शुक्लजी कवि होने के अतिरिक्त उच्च कोटि के समालोचक और निबंध-लेखक भी हैं। इनके निबंध हिंदी में अपने ढंग के निराले हैं। वे बड़े विचारपूर्ण होते हैं एवं उनके विचार सर्वथा मौलिक होते हैं। श्रद्धा और भक्ति, लज्जा और ग्लानि, क्रोध, करुणा आदि निबंधों में इन मनोविकारों का बहुत सुंदर मनोवैज्ञानिक विश्लेषण किया गया है। कविता क्या है ?, काव्य में प्राकृतिक दृश्य आदि निबंध गवेषणापूर्ण और सारगर्भित हैं। परंतु शुक्लजी के वास्तविक महत्त्व की परिदर्शक उनकी समालोचनाएँ हैं। ये हिंदी के सर्व-श्रेष्ठ समालोचक हैं। तुलसी, सूर और जायसी पर जो अपूर्व समालोचनाएँ इन्होंने लिखी हैं उन्होंने समालोचना-क्षेत्र में युगांतर उपस्थित कर दिया है। अपनी समालोचना में ये कवि के हृदय को खोलकर पाठकों के सामने रख देते हैं।

शुक्लजी ने अधिकतर ब्रजभाषा में रचना की है। खड़ी-बोली में भी इनकी कई कविताएँ हैं। इनकी भाषा साफ-सुथरी, सुकोमल, परिमार्जित और भावानुरूप होती है। निबंधों और समालोचना की भाषा संस्कृतगर्भित और प्रौढ़ है। भाव-गंभीरता के कारण वह कहीं कहीं दुरूह भी हो गई है। हिंदी की व्यंजना-शक्ति को इन्होंने बढ़ाया है। इनका प्रसिद्ध काव्य-ग्रंथ बुद्ध-चरित है। यह अँगरेजी कवि एडविन आर्नल्ड कृत लाइट् आफ् एशिया काव्य के आधार पर लिखा गया है पर इसमें बहुत कुछ नवीनता है। हमारी सम्मति में

यह मूल से अधिक सुंदर हो गया है। उसे अनुवाद न कह-कर कवि आर्नल्ड के काव्य से उद्भावित होकर लिखा हुआ स्वतंत्र काव्य समझना चाहिए।

इनकी अन्य रचनाएँ निम्नलिखित हैं—

(१) गोस्वामी तुलसीदास—इसमें तुलसी की जीवनी और उनके काव्य की विचारपूर्ण गंभीर आलोचना है।

(२) जायसी-ग्रंथावली—इसमें महाकवि जायसी के पदमावत और अखरावट नामक काव्य संपादित किए गए हैं। आरंभ में एक विद्वत्ता-पूर्ण विस्तृत आलोचना है।

(३) भ्रमर-गीत-सार—इसमें सूरसागर में से भ्रमर-गीत के चुने हुए पदों को लेकर संपादित किया गया है। आरंभ में एक छोटी किंतु गंभीर विचारपूर्ण आलोचनात्मक प्रस्तावना है।

(४) विचार-वीथी—इसमें इनके चुने हुए निबंधों का संग्रह है।

(५) विश्व-प्रपंच—यह प्रसिद्ध वैज्ञानिक हैकल के (Riddle of the Universe) नामक ग्रंथ का अनुवाद है। आरंभ में एक गवेषणापूर्ण गंभीर आलोचनात्मक निबंध है।

(६) शशांक—यह श्री राखालदास बनर्जी के बँगला उपन्यास का अनुवाद है।

(७) आदर्श-जीवन—यह (Plain Living and High Thinking) नामक अँगरेजी ग्रंथ के आधार पर लिखा हुआ नवयुवकोपयोगी नीति-ग्रंथ है।

(८) काव्य में रहस्यवाद—इसमें रहस्यवाद की व्याख्या करते हुए आधुनिक कवियों की उच्छृंखलता का विरोध किया गया है। इनके अतिरिक्त और भी कई छोटी-मोटी रचनाएँ हैं।

महाभिनिष्क्रमण

निखरी रैन चैत पूनौं की अति निर्मल उजियारी।
चारुहासिनी खिली चाँदनी पटपर पै अति प्यारी॥
अमराइन में धँसि अमियन को दरसावति बिलगाई।
सींकन में गुछि झूलि रहीं जो मंद झकोरन पाई॥
चुवत मधूक परसि भू जौ लौं 'टप टप' शब्द सुनावैं।
ताके प्रथम पलक मारत भर में निज झलक दिखावैं॥
महकति कतहुँ अशोक-मंजरी; कतहुँ कतहुँ पुर माहीं।
रामजन्म-उत्सव के अब लौं साज हटे हैं नाहीं॥
छिटकी विमल विश्राम-वन पै यामिनी मृदुताभरी।
वासितै सुगंध प्रसून-परिमल सौं, नछत्रन सौं जरी॥
ऊँचे उठे हिमवान की हिम-राशि सौं मनभावनी।
संचरति शैल-सुवायु शीतल मंद मंद सुहावनी॥
चमकाय शृंगन चंद्र चढ़ि अब अमल अंबर-पथ गह्यो।
झलकाय निद्रित भूमि, रोहिनि के हिलोरन को रह्यो॥
रस-धाम के बाँके मुँडेरन पै रही द्युति छाय है।
जहँ हिलत-डोलत नाहिँ कोऊ कतहुँ परत लखाय है॥

बस हाँक केवल फाटकन पै पाहरुन की सुनि परै ।
जहँ एक 'मुद्रा' कहि पुकारत, एक 'अंगन' धुनि करै ॥
बजि उठत तोरणवाद्य हैं, पुनि भूमि नीरवता लहै ।
है कबहुँ बोलत फेरु, पुनि झनकार झींगुर की रहै ॥
भवन-भीतर जाति जालिन बीच सोँ छनि चाँदनी ।
भीति पै औ भूमि पै, जो सीप-मर्मर की बनी ॥
किरनमाल मयंक की तरुनीन पै है परि रही ।
स्वर्ग बिच विश्राम-थल अमरीन को मानो यही ॥
लगे द्वार पै चंदन के हैं चित्रित चौखट ।
कनककलित बहु परे मनोहर अरुण नील-पट ॥
चढ़ि कै सीढ़ी तीन, परत हैं जिनके भीतर ।
अति विचित्र आवास कुँवर को परम मनोहर ॥
रेशम की गुलगुली सेज जहँ सजी सुनिर्मल ।
लगति कमल-दल-सरिस अंग तर जो अति कोमल ॥
भीतिन पै हैं मोतिन की पटरी बैठाई ।
सिंहल की सीपिन सोँ जो हैं गई मँगाई ॥
सित मर्मर की छत पै सुंदर पच्चीकारी ।
रंग रंग के नग जड़ि कै जो गई सँवारी ॥
विविध वर्ण की बनी बेल-बूटी मन मोहति ।
कटी झरोखन बीच चित्रमय जाली सोहति ॥
जिन सोँ खिली चमेलिन को सौरभ है आवत ।
चंद्रकिरण, सीतल समीर को संग पुरावत ॥

भीतर सुषमा लसति नवल दंपति की भारी।
शाक्य कुँवर है बसत, लसति गोपा छबिवारी॥
यशोधरा उठि परी नींद सोँ कछु अकुलाई।
उर सोँ अंचल सरकि रह्यो कटि सोँ लपटाई॥
रहि रहि लेति उसास, हाथ भौंहन पै फेरति।
भरे विलोचन वारि, चाहि निज पिय दिशि हेरति॥
तीन बार कर चूमि कुँवर को बोली सिसकति—
उठौ नाथ! मोको बचनन सोँ सुखी करौ अति॥
कह्यो कुँवर—है कहा?, प्रिये, मोहिँ कहौ बुझाई।
पै सिसकति सो रही, बात मुख पै नहिँ आई॥
पुनि बोली—हे नाथ, गर्भ में शिशु जो मेरे।
सोचति ताकी बात सोय मैं गई सबेरे॥
लखे भयानक स्वप्न तीन मैं अति सुखघाती।
करिकै जिनको ध्यान अजहुँ लौँ धरकति छाती॥
हेर्‌यो मैं, हे नाथ, हाय! निज पार्श्व ओर जब।
पायोँ सूनी सेज, तिहारे वसन परे सब॥
चिह्न मात्र तव रहे, छाँड़ि तुम मोहिँ सिधारे।
जो मेरे सर्वस्व, प्राणधन, जीवन, प्यारे॥
देखति हौँ पुनि, मोतिन को कटि-बन्ध तिहारो।
लपट्यो मेरे अंग, भयो अहि दंशनवारो॥
करके कर के कंगन, औ केयूर गए नसि।
वेणी सोँ मुरझाय मल्लिका-दाम परे खसि॥

यह सोहाग की सेज रही भू माहिँ समाई।
द्वारन के पट चौथि उठे आपहि उधिराई॥
सुन्यौं दूर पै फेरि श्वेत वृषभहिँ मैं हँकरत।
और लख्यो सोइ केतु दूर पै दमकत फहरत॥
पुनि बानी सुनि परी—समय आयो नियराई।
उठ्यो करेजो काँपि, परी जगि मैं अकुलाई॥
इन स्वप्नन को अर्थ याहि, या तो मैं मरिहौं।
अथवा तजिहौ मोहिँ, मृत्यु ते बढ़ि दुख भरिहौं॥
अथवत दिनकर सम आभा मृदु नयनन धारी।
रह्यो कुँवर निज दुखित प्रिया की ओर निहारी॥
बोल्यो पुनि—हे प्रिये, रहौ तुम धीरज धारे।
यदि धीरज कछु मिलै प्रेम मे तुम्हेँ हमारे॥
सबसौं बढ़िकै सदा तुम्हैं चाह्यौं औ चहिहौं।
सबके हित जो वस्तु रह्यौं खोजत, औ रहिहौं॥
ताहि तिहारे हेतु खोजिहौं अधिक सबन सौं।
धीरज यातें धरौ छाँड़ि चिंता सब मन सौं॥
परै दुःख जो कछू धीर धरियो गुनि यह चित।
होय कदाचित् हम दोउन के दुख सौं जग-हित॥
प्राणप्रिये हे, सुख सौं सोओ तुम निधरक अब।
हौं बैठो मैं पास तिहारे, औ निरखत सब॥
सजल नयन सौं सोय रही सो सिसकति-रोवति।
'समय गयो अब आय' स्वप्न सो पुनि यह जोवति॥

उलटि कुँवर सिद्धार्थ रह्यो नभ ओर निहारी।
चमकत उज्ज्वल चंद्र, विमल फैली उजियारी॥
बीच बीच में कतहुँ रजत सी आभा धारे।
मिलि कै मानो रहे यहै कहि सारे तारे॥
यहै रैनि सो, गहौ पंथ चाहौ जो हेरो।
सुख वैभव को अपने वा जगमंगल केरो॥
चहै करो तुम राज, चहै भटको तुम उत इत।
मुकुटहीन जनहीन, होय जासों जग को हित॥
कह्यो सो—मैं अवसि जैहौं, घरी पहुँची आय।
रहे, सोवनहारि, तव ये मृदुल अधर बताय॥
करन को सो, कटै जासों जगत को भव-रोग।
यदपि मोसों और तोसों है न जाय वियोग॥
गगन की निःस्तब्धता में मोहिं झलकत आज।
जगत में आयों करन हित कौन सो मैं काज॥
रहे सबै बताय,—आयों हरन को भव-भार।
चहौं मैं नहिं मुकुट, जापै वंश-गत अधिकार॥
फिरन चाहौं धरा पै मैं धरि अकलुषित पाँव।
धूरि ह्वैहै सेज मेरी, बास सूनो ठाँव॥
तुच्छ तें अति तुच्छ मेरे वस्तु रहिहैं संग।
चुनि पुराने चोथरे ही धारिहौं मैं अंग॥
कोउ देहै, खायहौं सो, और व्यंजन नाहिं।
वास करिहौं गिरि-गुहा, औ विपिन-झाड़िन माहिं॥

अवसि करिहौं मैं यहै, है परत मेरे कान।
सकल जीवन को जगत के आर्त्तनाद महान ॥
हृदय उमगत है दया सों देखि भव-रुज घोर।
दूर जाको करन चाहौं, चलै जहँ लौं जोर ॥
शमन करिहौं याहि, जो कछु उचित शमन-उपाय।
कठिन त्याग, विराग और प्रयत्न सों मिलि जाय ॥
है हमारे शास्त्र को यह वचन सत्य प्रमान।
"जन्म को यह चक्र घूमत रहत एक समान" ॥
होत हैं आरोहक्रम में जीव जो अवदात।
कीट, खग, पशु सों मनुज ह्वै देवयोनिन जात ॥
सोइ परि अवरोह में पुनि कीट उष्मज होत।
हैं जहाँ लौं जीव, ते हैं सकल अपने-गोत ॥
शाप तें या मनुज को कहुँ होय जो उद्धार।
परै हलको सकल प्राणिन को अविद्या-भार ॥
जासु छाया है दिखावति त्रास सबको घोर।
जीव-पीड़ा जासु क्रीड़ा निपट निठुर कठोर ॥
होति कैसी बात, हा ! जो सकत कोउ बचाय।
अवसि ह्वैहै कहुँ न कहुँ तो शरण और उपाय ॥
रहे पीड़ित शात सों तौ लौं मनुज भरपूर।
कियो जौ लौं नाहिं कोऊ कठिन चकमक चूर ॥
और अरणी मथि निकासी अग्नि की चिनगारि।
रही इनमें लुकी जो बहु आवरण पट डारि ॥

लही जो कछु वस्तु जग में है मनुज ने चाहि।
मिली अपनी खोज, त्याग, प्रयत्न सों है वाहि॥
करै भारी त्याग कोऊ और खोजै जाय।
तो कदाचित् त्राण को मिलि जाय कोउ उपाय॥
खोज में पुनि सत्य के जो लगै आठों याम।
और मुक्ति-रहस्य खोजै, होय सो जा ठाम॥
दिव्य दृष्टि गड़ाय जो सो देखिहै चहुँ ओर।
अवसि टरिहै कबहुँ कतहूँ आवरण यह घोर॥
अवसि खुलिहै मार्ग कहुँ, जहँ थके पाँव पधारि।
पायहै निस्तार को सो कोउ द्वार निहारि॥
जासु हित सब त्यागिहै सो, अवसि मिलिहै ताहि।
और मृत्युंजय कदाचित् होयहै सो चाहि॥
करौं मैं यह, त्यागिबे हित जाहि एतो राज।
हिये कसकति पीर सो, जो सहत मनुज-समाज॥
हैं जहाँ जो कछु हमारो, कोटिगुन हू और,—
करत हौं उत्सर्ग, जासों होय सुख सब ठौर॥
होवहु साक्षी आज गगन के सारे तारे।
और भूमि, जो दबी भार सों आज पुकारे॥
त्यागत हौं मैं आज आपनो यह यौवन, धन।
राज-पाट, सुख-भोग, बन्धु, बान्धव औ परिजन॥
सबसों बढ़ि भुजपाश, प्रिये, तव तजत मनोहर।
तजिबो जाको या जग में है सबसों दुष्कर॥

पै तेरो निस्तार जगत् के सँग बनि ऐहै।
वाहू को जो गर्भ बीच तव कछु दिन रैहै॥
है जो फल लहलहे प्रेम को प्रथम हमारे—
पै देखन हित ताहि रहौं, तो धैर्य्य सिधारे॥
हे पत्नी, शिशु, पिता और मेरे प्रिय पुरजन।
कछुक दिवस सहि लेहु दुःख, जो परिहै या छन॥
जासों निर्मल ज्योति जगै सो अति उजियारी।
लहैं धर्म को मार्ग सकल जग के नर-नारी॥
अब यह दृढ़ संकल्प; आज सब तजि मैं जैहौं।
जब लौं मिलिहै नाहिँ तत्त्व सो, नहिँ फिरि ऐहौं॥
यों कहि नयनन लाय लियो निज प्यारी को कर।
नेह भरी पुनि दीठि विदाहित डारी मुख पर॥
करि परिक्रमा तीन सेज की, पाँव बढ़ाए।
धकधकाति छाती को कर सों दोउ दबाए॥
कह्यौ—कबहुँ अब नाहिँ सेज पै या पग धरिहौं।
छानत पथ की धूरि धरातल बीच बिचरिहौं॥
तीन बेर हठि चल्यो, किंतु सो फिरि फिरि आयो।
ऐसो वाके रूप-प्रेम सों रह्यो बँधायो॥
अंत सीस पट नाय, पलटि, आगे पग डारी।
आयो जहँ सहचरी सकल सोवतिँ सुकुमारी॥
पाय निशा मनु बँधी कमलिनी इत उत सोहति।
गंगा औ गौतमी अधिक सबसों मन मोहति॥

पुनि तिनकी दिशि हेरि कह्यो—सहचरी हमारी।
तुम सुखदायिनि परम, तजत तुमको दुख भारी॥
पै जो तुमको तजौं नाहिं तो अंत कहा है?
जरा, क्लेश अनिवार्य्य, मरण विकराल महा है॥
देखो, जैसे परी नींद में हो या छन सब।
परिहो याही भाँति, मृत्यु गरजति ऐहै जब॥
सूखि गयो जब कुसुम, कहाँ फिर गंध रूप तब?
चुक्यो तेल जब, ज्योति दीप की गई कहाँ सब?
हे रजनी, तुम और नींद सो चापौ पलकन।
अधरन राखौ मूँदि और तुम इनके या छन॥
जासोँ नयनन नीर और मुख वचन दीनतर।
राखैं मोहिँ न रोकि, जावँ मैं तजि अपनो घर॥
जेतोई सुख मोद लह्यो मैं इनसोँ भारी।
तेतोई हौं होत सोचि यह बात दुखारी॥
मैं, ये औ नर सकल भरत जड़-तरु-सम जीवन।
लहत सहत हैं जो वसंत औ शीत ताप तन॥
कबहूँ पात झुरात, झरत, हैं लहलहात पुनि।
कबहुँ कुठार-प्रहार मूल पै होत परत सुनि॥
नहिँ जीवन या रूप बितैहौं या जग माहीं।
दिव्य जन्म मम, जाय व्यर्थ सो ऐसो नाहीं॥
बिदा लेत हौं आज, अस्तु, हे सकल सुहृद जन।
जौ लौं है सुखसार-पूर्ण मेरो यह जीवन॥

है अर्पण के योग्य वस्तु सो, यातें अर्पत।
खोजन हित हौं जात मुक्ति औ गुप्त ज्योति सत॥
कढ़्यो मंद पग धरत कुँवर वा निशि में रहि रहि।
तारक-रूपी नयन नेह सों रहे जासु चहि॥
शीतल श्वास-समीर आय चूम्यो फहरत पट।
जोह्यो नाहिँ प्रभात, सुमन खोल्यो सौरभ चट॥
हिम गिरि सों लै सिंधु ताइँ बसुधा लहरानी।
नव आशा सों तासु हृदय उमग्यो कछु जानी॥
मधुर दिव्य संगीत गगन में पर्‌यो सुनाई।
दमकि उठीं सब दिशा, देवगण सों जो छाई॥
बाहर आयो कुँवर, पुकार्‌यो—छंदक, छंदक।
उठौ, हमारो अश्व अबै कसि लाओ कंथक॥
फाटक ही पै रह्यो सारथी छंदक सोवत।
धीरे सों उठि कह्यो कुँवर-मुख जोवत जोवत॥
कहा कहत हौ, नाथ, राति में या अँधियारी।
जैहौ तुम कित, कुँवर, होत विस्मय मोहिँ भारी॥
बोलौ धीमे, लाओ मेरे चपल तुषारहि।
घरी पहुँचि सो गई, तजौं या कारागारहि॥
जहाँ रहत मन बँधो, तत्त्व ढिग पहुँचि न पावत।
अब मैं खोजन जात लोक-हित ताहि यथावत॥
बोल्यो छंदक—कृपानाथ! हम कैसे रहिहैं?
महाराज, तव पिता, शोक यह कैसे सहिहैं?

पुनि जाके तुम जीवनधन, वाको का ह्वैहै ?
करिहै कहा सहाय, जबै जीवन नसि जैहै ?
उत्तर दीनो कुँवर—सखा, यह प्रेम न साँचो।
जो निज आनँद-हेतु, प्रेम निश्चय सो काँचो ॥
पै इनसों मैं प्रेम करत निज आनँद सों बढ़ि।
औ तिनहू के आनँद सों बढ़ि—यातें अब कढ़ि ॥
जात उधारन हेतु इन्हैं, औ प्राणिन को सब।
लाओ कंथक तुरत, विलंब न नेकु करो अब ॥
"जो आज्ञा" कहि, गयो अश्वशाला में छंदक।
तुरत निकासी बागडोर चाँदी की झकझक ॥
तंग पलानी, कसि कंथक को लायो बाहर।
फाटक ढिग, जहँ कुँवर रह्यो ठाढ़ो वा अवसर ॥
थपथपाय कर कुँवर कंठ पै वाके फेरे।
बोल्यो पुनि—अब धीर धरौ, हे कंथक मेरे ॥
आज मोहिं लै चलौ, जहाँ लौं बनै निरंतर।
सत्य खोजिबे हेतु कढ़त हौं आज छाँड़ि घर ॥
कहाँ खोज को अंत होयहै, यह नहिं जानत।
बिनु पाए नहिं अंत, यहै निश्चय मन ठानत ॥
सो अब साहस करौ करारो, तुरग हठीले।
खड्गधार जो बिछै पंथ, पग परैं न ढीले ॥
थमै न तेरो वेग, रुकै ना गति कहुँ तेरी।
खाई खंदक परैं, चहै पत्थर की ढेरी ॥

धीरे सोँ पुनि उछरि पोठि पै वाके आयो।
केसर पै कर फेरि कंठ वाको सहरायो॥
बढ़्यो अश्व अब, परीँ टाप पथरन पै वाकी।
बागडोर की कड़ी हिलीँ चमकीँ अति बाँकी॥
गयो गगन-तट शुक्र, बह्यो जब प्रात-समीरन।
लहरन लागी कछुक अनामा पाय झकोरन॥
खीँचि बाग चट कुँवर कूदि महि पै पग धारे।
कंथक को चुमकारि, ठोँकि मृदु वचन उचारे॥
छंदक सोँ पुनि प्रेम सहित बोल्यो कुमार वर।
जो कछु तुमने कियो आज, वाको फल सुंदर॥
पैहो तुम, औ पैहैँ जग के सब नारी-नर।
धन्य भए तुम आज जगत मेँ, हे सारथिवर॥
देखि तिहारो प्रेम, प्रेम मेरो अति तुम पर।
अब मेरे या प्यारे अश्वहिँ लै पलटो घर॥
लेहु सीस को मुकुट, राजपरिधान हमारे।
जिन्हैँ न कोउ अब मोहिँ देखिहै तन पै धारे॥
रत्न-जटित कटिबंध सहित यह खड्ग लेहु मम।
औ ये लाँबी लटैँ, काटि फेँकत जिनको हम॥
दै यह सब तुम महाराज सोँ कहियो जाई।
मेरी सुधि अब राखैँ तौ लौँ सकल भुलाई॥
जौ लौँ आऊँ नाहिँ राज सोँ बढ़ि लहि संपति।
यत्न योग बल विजय पाय, लहि बोध विमल अति॥

यदि पाऊँ यह विजय, होय वसुधा मेरी सब।
हित नाते, उपकार निहोरे, यहै चहत अब॥
गति मनुष्य की होनी है मनुष्य के हाथन।
पच्यो न जैसो कोउ होय, पचिहौं दै तन-मन॥
जग के मंगल हेतु होत हौं जग तें न्यारे।
पैहौं कोऊ युक्ति मुक्ति की यह चित धारे॥

---

४. मैथिलीशरण गुप्त

जन्म-काल——सं० १९४३

मैथिलीशरण गुप्त का जन्म झाँसी जिले के चिरगाँव नामक कसबे में सन् १८८३ में हुआ। ये गहोई वैश्य हैं। इनके पिता श्रीराम के भक्त और कवि भी थे। सरस्वती-संपादक पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी के प्रोत्साहन से इनकी प्रतिभा विकसित हुई और उन्हीं के परिमार्जन से इनकी शैली निर्मित हुई। इनकी कविता का हिंदी जनता ने अच्छा आदर किया। इनकी भारत-भारती नामक पुस्तक बहुत दिनों तक नव-युवकों का कण्ठ-हार रही। इनकी कविताओं का हिंदी में सबसे अधिक प्रचार है। आजकल ये चिरगाँव में रहते हैं जहाँ इनका एक अपना प्रेस भी है। ये सरल-स्वभाव, निरभिमान और दिखावे से दूर भागनेवाले हैं।

गुप्तजी इस युग के प्रतिनिधि-कवि समझे जाते हैं। आधुनिक युग की सब विशेषताएँ इनकी रचना में पाई जाती हैं। जब हिंदी में छाया-वाद की धूम मची तब गुप्तजी उधर भी झुके। उपाध्यायजी के जमाने के कवि होकर भी ये प्रसाद और पंत के नवीन युग के कर्णधारों का स्थान ग्रहण किये हुए हैं। खड़ी बोली के आरंभकालीन लेखकों में इनकी भी गणना है। उस समय लोगों का विचार था कि खड़ी बोली

कविता के लिए अनुपयुक्त है और उसमें सफलता-पूर्वक काव्य-रचना नहीं हो सकती। इस विचार को इन्होंने निर्मूल सिद्ध कर दिया और खड़ी बोली में सफल काव्य-रचना करके दिखा दिया। खड़ी बोली की कविता को जनप्रिय बनाने में भी इनका बहुत हाथ है। ये अनुवादक भी बहुत अच्छे हैं। इनके अनुवाद मूल से कम रुचिकर नहीं होते।

गुप्तजी की कविता उच्च आदर्श और पवित्र भावों से भरी हुई होती है। आरंभकालीन रचनाओं में देश-भक्ति और राष्ट्रीयता का सुंदर निरूपण हुआ है जिससे नवयुवकों में राष्ट्रीय भावना और जागृति की उत्पत्ति हुई।

गुप्तजी की भाषा शुद्ध खड़ी बोली होती है। वह सदा व्याकरणसम्मत होती है। संस्कृत होने पर भी वह कठिन नहीं होने पाती। स्वाभाविक प्रभाव उसमें अच्छा रहता है। भाषा पर उनका अपरिमित अधिकार है। उनकी मुख्य रचनाएँ ये हैं—

(१) भारत-भारती—इसमें प्राचीन भारतीय गौरव और वर्त्तमान हीन दशा का अच्छा चित्र खींचा गया है। कविता की दृष्टि से यह साधारण भले ही समझी जाय पर देश की जागृति के लिये इसने बड़ा कार्य किया है।

(२) जयद्रथ-वध—यह छोटा सा खंड काव्य है जिसमें अभिमन्यु-वध और जयद्रथ-वध का वर्णन है। करुण-रस का इसमें अच्छा परिपाक हुआ है।

(३) पंचवटी—यह भी छोटा सा खंडकाव्य है। इस काव्य में राम-लक्ष्मण के पंचवटी-जीवन और शूर्पणखा के नाक-कान काटे जाने की कथा है। कविता की दृष्टि से यह काव्य बहुत अच्छा हुआ है। भावों की पवित्रता इतनी है कि पढ़ते समय यह ज्ञात होता है मानो किसी आश्रम में विचरण कर रहे हैं। भाषा का माधुर्य भी निराला है।

(४) शक्ति—इसमें देवी द्वारा शुंभ और निशुंभ के वध का बड़ा ही ऊर्जस्वी वर्णन है। यह एक छोटी सी रचना है।

(५) साकेत—यह एक महाकाव्य है। इसमें श्रीराम-चरित्र वर्णित है। इसके अनेक स्थल बहुत ही मनोहर हुए हैं। लक्ष्मण-पत्नी उर्मिला का चरित्र बड़ी भावुकता और मार्मिकता के साथ अंकित किया गया है। वही इस काव्य की नायिका है। इससे उच्च कोटि का काव्य आधुनिक हिंदी में दूसरा नहीं है।

उनकी अन्य रचनाएँ हिंदू, गुरुकुल, त्रिपथगा, किसान, अनघ (नाटय-काव्य), रंग में भंग, पत्रावली, वैतालिक, शकुंतला, स्वदेश-संगीत, तिलोत्तमा, चंद्रहास आदि हैं। अनुवादों में नीचे लिखे महत्त्वपूर्ण हैं—

(१) विरहिणी व्रजांगना, (२) वीरांगना, (३) मेघ-नाद-वध—ये तीनों बँगला के महाकवि श्रीमधुसूदन दत्त के इन्हीं नाम के तीन काव्य-ग्रंथों के अनुवाद हैं। विरहिणी व्रजांगना में भाषा का माधुर्य अनुपम है। (४) पलासी का युद्ध—यह ग्रंथ भी बँगला से अनूदित है। (५) रुबाइयात उमर खय्याम—

यह फारसी के सुप्रसिद्ध कवि उमर खय्याम की रुबाइयों का, फिट्ज़ जेराल्ड-कृत अँगरेजी रूपांतर से, अनुवाद है।

भरत और मांडवी

सौध-पार्श्व में पर्णकुटी है उसमें मंदिर सोने का,
जिसमे मणि-मय पादपीठ है, जैसा हुआ न होने का।
केवल पाद-पीठ, उस पर हैं पूजित युगल पादुकाएँ,
स्वयं प्रकाशित रत्न-दीप है दोनों के दाएँ-बाएँ॥
उटज-अजिर में पूज्य पुजारी उदासीन सा बैठा है,
आप देव-विग्रह मंदिर से निकल लीन सा बैठा है।
मिले भरत में राम हमें तो, मिलें भरत को राम कभी,
वही रूप है, वही रंग है, वही जटाएँ वही सभी॥
बाईं ओर धनुष की शोभा, दाईं ओर निषंग-छटा,
वाम पाणि में प्रत्यंचा है, पर दक्षिण में एक जटा!
आठ मास चातक जीता है अपने घन का ध्यान किए,
आशा कर निज घनश्याम की हमने बरसों बिता दिए॥
सहसा शब्द हुआ कुछ बाहर, किंतु न टूटा उनका ध्यान,
कब आ पहुँची वहाँ मांडवी, हुआ न उनको इसका ज्ञान।
चार चूड़ियाँ थीं हाथों में, माथे पर कस्तूरी-बिंदु,
पीतांबर पहने थी सुमुखी, कहाँ असित नभ का वह इंदु॥
फिर भी एक विषाद वदन के तपस्तेज में पैठा था,
मानो लोह-तंतु मोती को बेध उसी में बैठा था।

वह सोने का थाल लिए थी, उस पर पत्तल छाई थी,
अपने प्रभु के लिये पुजारिन फलाहार सज लाई थी॥
तनिक ठिठक, कुछ मुड़कर बाएँ, देख अजिर में उनकी ओर,
शीश झुकाकर चली गई वह मंदिर में निज हृदय हिलोर।
हाथ बढ़ाकर रक्खा उसने पाद-पीठ के सम्मुख थाल,
टेका फिर घुटनों के बल हो द्वार-देहरी पर निज भाल॥
टपक पड़ीं उसकी आँखों से बड़ी बड़ी बूँदें दो-चार,
दूनी दमक उठीं रत्नों की किरणें उनमें डुबकी मार।
यही नित्य का क्रम था उसका, राज-भवन से आती थी,
श्वश्रू-शुश्रूषिणी अंत में पति-दर्शन कर जाती थी॥
उठ धीरे, प्रिय-निकट पहुँचकर, उसने उन्हें प्रणाम किया,
चौंक उन्होंने, सँभल 'स्वस्ति' कह, उसे उचित सम्मान दिया॥
'जटा और प्रत्यंचा की उस तुलना का क्या फल निकला?'
हँसने की चेष्टा करके भी हा! रो पड़ी वधू विकला॥
'यह विषाद भी, प्रिये, अंत में स्मृति-विनोद बन जावेगा,
दूर नहीं अब अपना दिन भी, आने को है, आवेगा।'
'स्वामी, तदपि आज हम सबके मन क्यों रो रो उठते हैं?
किसी एक अव्यक्त आर्त्ति से आतुर हो हो उठते हैं?'
'प्रिये, ठीक कहती हो तुम यह, सदा शंकिनी आशा है,
होकर भी बहु चित्र-अंकिनी, आप रंकिनी आशा है।
विस्मय है, इतनी लंबी भी अवधि बीतने पर आई,
खड़ा न हो फिर नया विघ्न कुछ, स्वयं सभय चिंता छाई॥

सुनो, नित्य जन-मन:कल्पना नया निकेत बनाती है,
किंतु चंचला उसमें सुख से पल भर बैठ न पाती है।
सत्य सदा शिव होने पर भी विरूपाक्ष भी होता है,
और कल्पना का मन केवल सुंदरार्थ ही रोता है॥
तो भी अपने प्रभु के ऊपर है मुझको पूरा विश्वास,
आर्य कहीं हों किंतु आर्य के दिए वचन हैं मेरे पास।
रोक सकेगा कौन भरत को अपने प्रभु को पाने से?
टोक सकेगा रामचंद्र को कौन अयोध्या आने से?'
"नाथ, यही कह माँओं को मैं किसी भाँति कुछ खिला सकी,
पर उर्मिला बहन को यह मैं आज न जल भी पिला सकी।
'कहाँ और कैसे होंगे वे?'—कह कह माँएँ रोती हैं,
'काँटे उन्हें कसकते होंगे'—रह रह धीरज खोतीं हैं॥
किंतु बहन के बहनेवाले आँसू भी सूखे हैं आज,
बरुनी के वरुणालय भी वे अलकों से रूखे हैं आज।
उनके मुँह की ओर देखकर आग्रह आप ठिठकता है,
कहना क्या, कुछ सुनने में भी हाय! आज वह थकता है॥
दीन भाव से कहा उन्होंने, 'बहन एक दिन बहुत नहीं,
बरसों निराहार रहकर ये आँखें क्या मर गईं कहीं?'
विवश लौट आई रोकर मैं, लाई हूँ नैवेद्य यहाँ,
'आता हूँ मैं', कहकर देवर गए उन्हीं के पास वहाँ॥"
सनि:श्वास तब कहा भरत ने—'तो फिर आज रहे उपवास'।
'पर प्रसाद प्रभु का?'—यह कहकर हुई मांडवी अधिक उदास।

'सबके साथ उसे लूँगा मैं वीते,—बीत रही है रात,
हाय ! एक मेरे पीछे ही हुआ यहाँ इतना उत्पात ॥
एक न मैं होता, तो भव की क्या असंख्यता घट जाती ?
छाती नहीं फटी यदि मेरी, तो धरती ही फट जाती !'
'हाय नाथ धरती फट जाती, हम-तुम कहीं समा जाते,
तो हम दोनों किसी तिमिर में रहकर कितना सुख पाते ॥
न तो देखता कोई हमको, न वह कभी ईर्ष्या करता,
न हम देखते आर्त्त किसी को, न यह शोक आँसू भरता ।
स्वयं परस्पर भी न देखकर करते हम बस अंग-स्पर्श,
तो भी निज दांपत्य-भाव का उसे मानती मैं आदर्श ॥
कौन जानता किस आकर में पड़े हृदय-रूपी दो रत्न ?
फिर भी लोग किया करते हैं उनकी आशा पर ही यत्न ।
ऐसे ही अगणित यत्नों से तुम्हें जगत ने पाया है,
उस पर तुम्हें न हो, पर उसको तुम पर, ममता-माया है ॥
नाथ, न तुम होते तो यह व्रत कौन निभाता, तुम्हीं कहो,
उसे राज्य से भी महार्घ धन देता आकर कौन, अहो ?
मनुष्यत्व का सत्त्व-तत्त्व यों किसने समझा-बूझा है ?
सुख को लात मारकर तुमसा कौन दुःख से जूझा है ?
खेतों के निकेत बनते हैं, और निकेतों के फिर खेत,
वे प्रासाद रहें न रहें, पर अमर तुम्हारा यह साकेत ।
मेरे नाथ, जहाँ तुम होते दासी वहीं सुखी होती,
किंतु विश्व की भ्रातृ-भावना यहाँ निराश्रित हो रोती ॥

रह जाता नर-लोक अबुध ही ऐसे उन्नत भावों से,
घर घर स्वर्ग उतर सकता है, प्रिय, जिनके प्रस्तावों से।
जीवन में सुख-दुःख निरंतर आते-जाते रहते हैं,
सुख तो सभी भोग लेते हैं, दुःख धीर ही सहते हैं॥
मनुज दुग्ध से, दनुज रुधिर से, अमर सुधा से जीते हैं,
किंतु हलाहल भव-सागर का शिवशंकर ही पीते हैं।
अब कै दिन के लिये खेद यह, जब यह दुख भी चला, चला ?
सच कहती हूँ, यह प्रसंग भी मुझको जाते हुए खला॥'
'प्रिये, सभी सह सकता हूँ मैं, पर असह्य तुम सबका ताप।'
'किंतु, नाथ, हम सबने इसको लिया नहीं क्या अपने आप ?
भूरि भाग्य ने एक भूल की, सबने उसे सँभाला है,
हमें जलाती, पर प्रकाश भी फैलाती, यह ज्वाला है॥
कितने कृती हुए, पर किसने गौरव इतना पाया है ?
मैं तो कहती हूँ, सुदैव ही यहाँ दुःख यह लाया है।
व्यथा भरी बातों में ही तो रहता है कुछ अर्थ भरा,
तप में तपकर ही वर्षा में होती है उर्वरा धरा॥'
आकर, 'लघु कुमार आते हैं', बोली नत हो प्रतिहारी,
'आवें', कहा भरत ने, तत्क्षण आए वे धन्वा-धारी।
आकर किया प्रणाम उन्होंने, दोनों ने आशीष दिया,
सुख का भाव देखकर उनका सुख पाया, संतोष किया॥
'कोई तापस, कोई त्यागी, कोई आज विरागी हैं,
घर सँभालनेवाले मेरे देवर ही बड़भागी हैं!'

मुसकाकर तीनों ने क्षण भर पाया वर विनोद-विश्राम,
अनुभव करता था अपने में चित्रकूट का नंदिग्राम ॥

उर्मिला-लक्ष्मण-मिलन

पाकर अहा उमंग उर्मिला अंग भरे थे,
आली ने हँस कहा, 'कहाँ ये रंग भरे थे ?
सुप्रभात है आज, स्वप्न की सच्ची माया !
किंतु कहाँ वे गीत, यहाँ जब श्रोता आया ॥
फड़क रहा है वाम नेत्र, उच्छ्वसित हृदय है,
अब भी क्या तन्वंगि, तुम्हें संशय या भय है ?
आओ, आओ, तनिक तुम्हें सिंगार सजाऊँ,
बरसों की मैं कसक मिटाऊँ, बलि बलि जाऊँ ॥'
'हाय' सखी, शृंगार ? मुझे अब भी सोहेंगे ?
क्या वस्त्रालंकार-मात्र से वे मोहेंगे ?
मैंने जो वह 'दग्धवर्त्तिका' चित्र लिखा है,
तू क्या उसमें आज उठाने चली शिखा है ?
नहीं, नहीं प्राणेश मुझी से छले न जावें,
जैसी हूँ मैं, नाथ मुझे वैसा ही पावें ।
शूर्पणखा मैं नहीं—, हाय, तू तो रोती है
अरी, हृदय की प्रीति हृदय पर ही होती है ॥'
'किंतु देख यह वेश दुखी वे होंगे कितने ?'
'तो ला भूषण-वस्त्र, इष्ट हों तुझको जितने ।

पर यौवन-उन्माद कहाँ से लाऊँगी मैं ?
वह खोया धन आज कहाँ, सखि, पाऊँगी मैं ?'
'अपराधी सा आज वही तो आने को है,
बरसों का यह दैन्य सदा को जाने को है।
कल रोती थीं, आज मान करने बैठी हो,
कौन राग यह, जिसे गान करने बैठी हो ?
रवि को पाकर पुनः पद्मिनी खिल जाती है,
पर वह हिम-कण बिना कहाँ शोभा पाती है?'
'तो क्या आँसू नहीं, सखो, अब इन आँखों में ?
फूटें, पानी न हो बड़ी भी जिन आँखों में ॥'
'प्रीति-स्वाति का पिया शुक्ति बन बनकर पानी,
राजहंसिनी, चुनो रीति-मुक्ता अब रानी।'
'विरह रुदन में गया, मिलन में भी मैं रोऊँ;
मुझे और कुछ नहीं चाहिए,पद-रज धोऊँ ॥
जब थी तब थी, आलि, उर्मिला उनकी रानी,
वह बरसों की बात आज हो गई पुरानी।
अब तो केवल रहूँ सदा स्वामी की दासी;
मैं शासन की नहीं आज सेवा की प्यासी ॥
युवती हो या, आलि, उर्मिला बाला तन से,
नहीं जानती किंतु स्वयं, क्या है वह मन से!
देखूँ, कह, प्रत्यक्ष आज अपने सपने को,
या सज-बजकर आप दिखाऊँ मैं अपने को?

सखि, यथेष्ट है यही धुली धोती हो मुझको,
लज्जा उनके हाथ, व्यर्थ चिंता है तुझको।
उछल रहा यह हृदय, अंक में भर ले, आली
निरख तनिक तू आज ढीठ संध्या की लाली ॥
मान करूँगी आज ? मान के दिन तो बीते,
फिर भी पूरे हुए सभी मेरे मन-चीते।
टपक रही वह कुंज-शिलावाली शेफाली,
जा नीचे, दो-चार फूल चुन, ले आ डाली ॥
वनवासी के लिये सुमन की भेंट भली वह !'
'किंतु उसे तो कभी पा चुका, प्रिये, अली यह!'
देखा प्रिय को चौंक प्रिया ने, सखी किधर थी?
पैरों पड़ती हुई उर्मिला हाथों पर थी ॥
लेकर मानो विश्व-विरह उस अंतःपुर में
समा रहे थे एक-दूसरे के वे उर में।
रोक रही थी उधर मुखर मैना को चेरी—
'यह हत हरिणी छोड़ गए क्यों, नए अहेरी ?'
'नाथ, नाथ, क्या तुम्हें सत्य ही मैंने पाया ?'
'प्रिये, प्रिये, हाँ आज—आज ही—वह दिन आया।
मेघनाद की शक्ति सहन करके यह छाती
अब भी क्या इन पाद-पल्लवों से न जुड़ाती ?
मिला उसी दिन किंतु तुम्हें मैं खोया खोया,
जिस दिन आर्या बिना आर्य का मन था रोया।

पूर्ण रूप से, सुनो, तुम्हें मैंने कब पाया,
जब आर्या का हनूमान ने हाल सुनाया!
अब तक मानो जिसे वेश-भूषा में टाला,
अपने को ही आज मुझे तुमने दे डाला।
आँखों में ही रही अभी तक तुम थी मानो,
अंतस्तल में आज अचल निज आसन जानो॥
परिधि-विहीन सुधांशु-सदृश संताप-विमोचन,
धूलि-रहित, हिम-धौत, सुमन सा लोचन-रोचन।
अपनी द्युति से आप उदित, आडंबर त्यागे
धन्य अनावृत प्रकृत रूप यह मेरे आगे॥
जो लक्ष्मण था एक तुम्हारा लोलुप कामी,
कह सकती हो आज उसे तुम अपना स्वामी।'
'स्वामी, स्वामी, जन्म जन्म के स्वामी मेरे!
किंतु कहाँ वे अहोरात्र, वे साँझ-सबेरे!
खोई अपनी, हाय! कहाँ वह खिल खिल खेला?
प्रिय, जीवन की कहाँ आज वह चढ़ती वेला?'
काँप रही थी देह-लता उसकी रह रहकर,
टपक रहे थे अश्रु कपोलों पर बह बहकर॥
'वह वर्षा की बाढ़ गई उसको जाने दो,
शुचि गभीरता, प्रिये, शरद् की यह आने दो।
धरा-धाम को राम-राज्य की जय गाने दो,
लाता है जो समय, प्रेम-पूर्वक लाने दो॥'

५. जयशंकर 'प्रसाद'

जन्मकाल—सं० १९४६

जयशंकर 'प्रसाद' का जन्म सं० १९४६ में, काशी में, कान्यकुब्ज वैश्य-कुल में हुआ। इनके पिता-पितामह सुँघनी-साहु के नाम से प्रसिद्ध थे और बड़े भारी व्यापारी एवं दानी थे। जब ये मिडिल कक्षा में पढ़ रहे थे उस समय इनके पिता का देहांत हो गया। इसके पीछे घर पर ही इन्होंने हिंदी, संस्कृत, फारसी और अँगरेजी की शिक्षा प्राप्त की। इनकी सत्रह वर्ष की अवस्था में इनके बड़े भाई का भी देहांत हो गया जिससे गृहस्थी और कारबार का सारा भार इन्हीं पर आ पड़ा।

कविता से इन्हें बचपन से ही प्रेम था। अपनी प्रतिभा के बल से हिंदी-साहित्य में इन्होंने प्रमुख स्थान प्राप्त कर लिया। इनकी प्रतिभा बहुमुखी है। साहित्य के विविध अंगों को इन्होंने छुआ और सबमें पूर्ण सफलता प्राप्त की। ये हिंदी के सर्व-श्रेष्ठ नाटककार हैं। इसके अतिरिक्त ये कवि, कहानी-लेखक, उपन्यासकार और गद्य-लेखक भी हैं। सभी बातों में इनकी गणना सर्वश्रेष्ठ लेखकों में की जाती है।

हिंदी-साहित्य के नव-युग-प्रवर्त्तकों में 'प्रसाद'जी भी अग्रगण्य हैं। अतुकांत छंद और रहस्यवाद की कविता का सूत्रपात इन्हीं के द्वारा हुआ। ये प्राचीन भारतीय इतिहास और संस्कृत के अच्छे ज्ञाता हैं। दोनों का सुंदर उपयोग इन्होंने अपने नाटकों में किया है। भावों की मौलिकता और गंभीरता तथा मनोविकारों का विश्लेषण इनकी रचना के प्रधान गुण हैं। कहीं कहीं दार्शनिकता के कारण अर्थ-दुरूहता भी उत्पन्न हो गई है।

'प्रसाद'जी पहले व्रजभाषा में लिखते थे। अब बरसों से खड़ी बोली में ही लिखते हैं। इनकी भाषा में तत्सम संस्कृत शब्दों की खूब प्रचुरता है जो उत्तरोत्तर बढ़ती गई है। अनेक अप्रयुक्त या विस्मृत शब्दों का पुनरुद्धार करके इन्होंने हिंदी के शब्द-भंडार की बहुत वृद्धि की है।

सब बातों पर विचार करते हुए 'प्रसाद'जी को आधुनिक हिंदी-लेखकों में प्रथम स्थान दिया जा सकता है।

'प्रसाद'जी की मुख्य मुख्य रचनाएँ निम्नलिखित हैं—

(१) नाटक—'प्रसाद'जी के नाटक अधिकांश ऐतिहासिक हैं। उनमें भारत की प्राचीन संस्कृति और सभ्यता की अच्छी झलक पाई जाती है। ऐतिहासिक नाटकों में प्रधान राज्यश्री, विशाख, जनमेजय का नागयज्ञ, अजातशत्रु, स्कंदगुप्त विक्रमादित्य और चंद्रगुप्त मौर्य हैं। इन नाटकों में 'प्रसाद'जी की नाटक-रचना-प्रणाली अपनी स्वतंत्र शैली का परिचय देती है, जो न डी० एल० राय की उद्वेगजनक शैली है

और न आधुनिक पश्चिमीय नाटकों की यथार्थोन्मुख, तर्कप्रधान शैली। जिस काल की घटनाओं का चित्रण किया जा रहा है उसके अनुरूप वातावरण उपस्थित करने तथा उस काल-विशेष की प्रमुख घटनाओं का चित्रण करने के आशय से 'प्रसाद'जी को एक नए मार्ग का अवलंबन करना पड़ा है जिसे मध्य मार्ग कह सकते हैं। इसलिए उनके नाटकों में बहुतों को 'दिल हिलानेवाली' प्रभावशालिता नहीं मिलती परंतु इसका यह अर्थ नहीं कि 'प्रसाद'जी के नाटक असफल हैं अथवा वे अपने उद्देश की सिद्धि नहीं करते अथवा अनुकूल समय और रुचि का विकास होने पर भी उनका रस आस्वाद्य नहीं होगा।

कामना —यह एक रूपक-मय नाटक है। 'प्रबोध-चंद्रोदय' की भाँति मनोवृत्तियों को साकार रूप देकर इसकी रचना की गई है।

एक घूँट—यह एकांकी नाटक है जिसकी विशेषता यह है कि नाटक में आई हुई घटनाएँ उतनी ही देर में घटित हुई हैं जितनी देर में उनका अभिनयहोता है। यह एक समस्या-नाटक होने के कारण कथनोपकथन की प्रभावात्मकता में कहीं कहीं व्याघात पड़ा है। इसके दार्शनिक विचार मनोरंजक हैं।

(२) कहानियाँ—इनकी कहानियाँ भाव-प्रधान या चरित्र-प्रधान होती हैं। उनमें अलौकिकता (Supernatural element), चमत्कार और वैचित्र्य पाया जाता है।

कहानियों के चार संग्रह अभी तक छपे हैं—(१) छाया, (२) प्रतिध्वनि, (३) दीप और (४) आँधी।

(३) उपन्यास—(१) कंकाल, (२) तितली (इसका कुछ अंश काशी के जागरण पत्र में छपा था) ।

(४) कविता—(१) आँसू, (२) मन्वंतर (अप्रकाशित)–इसमें प्रलय और मनु की कथा को लेकर काव्य-रचना की गई है।

इनके अतिरिक्त तीन कविता-संग्रह भी छपे हैं जिनके नाम हैं–(१) कानन-कुसुम, (२) झरना और (३) चित्राधार । चित्राधार में व्रजभाषा की कविताएँ तथा कुछ गद्य-रचनाएँ संगृहीत हैं ।

कब ?

शून्य हृदय में प्रेम-जलद-माला कब फिर घिर आवेगी ?
वर्षा इन आँखों से होगी, कब हरियाली छावेगी ?
रिक्त हो रही मधु से, सौरभ सूख रहा है आतप से ;
सुमन-कली खिलकर कब अपनी पंखड़ियाँ बिखरावेगी ?
लंबी विश्व-कथा में सुख निद्रा समान इन आँखों में—
सरस मधुर छवि शांत तुम्हारी कब आकर बस जावेगी ?
मन-मयूर कब नाच उठेगा कादंबिनी-छटा लखकर,
शीतल आलिंगन करने को सुरभि-लहरियाँ आवेंगी ?
बढ़ उमंग-सरिता आवेगी आर्द्र किए रूखी सिकता,
सकल कामना स्रोत लीन हो पूर्ण विरति कब पावेगी ?

वे दिन

वे कुछ दिन कितने सुंदर थे !
जब सावन घन सघन बरसते
इन आँखों की छाया भर थे ।

सुरधनु-रंजित नव जलधर से
भरे क्षितिज-व्यापी अंबर से
मिले चूमते जब सरिता के
हरित कूल युग मधुर अधर थे।

प्राण-पपीहा के स्वर-वाली
बरस रही थी जब हरियाली
रस जल-कन मालती मुकुर से
जो मद-माते गंध-विधुर थे।

चित्र खींचती थी जब चपला
नील मेघ-पट पर वह विरला
मेरी जीवन-स्मृति के जिसमें
खिल उठते वे रूप मधुर थे।

मेघों के प्रति

अलका की किस विकल विरहिणी की पलकों का ले अवलंब
सुखी सो रहे थे इतने दिन कैसे, हे नीरद-निकुरंब ?
बरस पड़े क्यों आज अचानक ? सरसिज-कानन का संकोच ?
अरे जलद में भी यह ज्वाला ! झुके हुए क्यों ? किसका सोच ?
किस निष्ठुर ठंढे हृत्तल में जमे रहे तुम बर्फ समान ?
पिघल रहे किसकी गर्मी से, हे करुणा के जीवन-प्राण !
चपला की व्याकुलता लेकर, चातक का ले करुण कलाप,
तारा-आँसू पोंछ गगन के, रोते हो किस दुख से आप ?

किस मानस-निधि में न बुझा था बड़वानल जिससे बन भाप
प्रणय-प्रभाकर-कर से चढ़कर इस अनंत का करते माप ?
क्यों जुगनू का दीप जला है पथ में पुष्प और आलोक,
किस समाधि पर बरसे आँसू, किसका है यह शीतल शोक ?
थके प्रवासी बनजारों से लौटे किस मंथर गति से ?
किस अतीत की प्रणय-पिपासा जगती चपला सी स्मृति से ?

खोलो द्वार

शिशिर-कणों से लदी हुई, कमली के भीगे हैं सब तार।
चलता है पश्चिम का मारुत, लेकर शीतलता का भार॥
भीग रहा है रजनी का वह, सुंदर कोमल कवरी-भार।
अरुण किरण सम कर से छू लो, खोलो प्रियतम! खोलो द्वार॥
धूल लगी है पद काँटों से बिँधा हुआ है दुःख अपार।
किसी तरह से भूला-भटका आ पहुँचा हूँ तेरे द्वार॥
डरो न इतना, धूलि-धूसरित होगा नहीं तुम्हारा द्वार।
धो डाले हैं इनको प्रियवर, इन आँखों से आँसू ढार॥
मेरे धूलि लगे पैरों से, इतना करो न घृणा प्रकाश।
मेरे ऐसे छारों से कब, तेरे पद को है अवकाश॥
पैरों ही से लिपटा लिपटा कर लूँगा निज पद निर्धार।
अब तो छोड़ नहीं सकता हूँ, पाकर प्राप्य तुम्हारा द्वार॥
सुप्रभात मेरा भी होवे, इस रजनी का दुःख अपार।
मिट जावे जो तुमको देखूँ, खोलो, प्रियतम! खोलो द्वार॥

आँसू

इस करुणा-कलित हृदय में क्यों करुण रागिनी बजती ?
क्यों हाहाकार स्वरों में वेदना असीम गरजती ?
मानस-सागर के तट पर क्यों लोल लहर की घातें ?
कलकल-ध्वनि से हैं कहती कुछ विस्मृत बीती बातें ?
आती है शून्य क्षितिज से क्यों लौट प्रतिध्वनि मेरी ?
टकराती-बिलखाती सी पगली सी देती फेरी ?
क्यों छलक रहा दुख मेरा ऊषा की मृदु पलकों में ?
हाँ उलझ रहा सुख मेरा संध्या की घन अलकों में ?
जो घनीभूत पीड़ा थी मस्तक में स्मृति सी छाई,
दुर्दिन में आँसू बनकर वह आज बरसने आई।
बस गई एक बस्ती है स्मृतियों की इसी हृदय में;
नक्षत्र-लोक फैला है जैसे इस नील निलय में।
खाली न सुनहली संध्या मानिक मदिरा से जिनकी,
वे कब सुननेवाले हैं दुख की घड़ियाँ भी दिन की।
झंझा-झकोर, गर्जन है, बिजली है, नीरद-माला;
पाकर इस शून्य हृदय को सबने आ डेरा डाला।
लिपटे सोते थे मन में सुख-दुख दोनों ही ऐसे,
चंद्रिका अँधेरी मिलती मालती-कुंज में जैसे।
घन में सुंदर बिजली सी, बिजली में चपल चमक सी,
आँखों में काली पुतली, पुतली में श्याम झलक सी,
प्रतिमा में सजीवता सी बस गई सुछबि आँखों में;

थी एक लकीर हृदय में, जो अलग रही लाखों में।
गौरव था नीचे आए प्रियतम मिलने को मेरे;
मैं इठला उठा, अकिंचन देखे ज्यों स्वप्न सबेरे।
वह छुटता नहीं छुड़ाए, रँग गया हृदय है ऐसा;
आँसू से धुला निखरता, यह रंग अनोखा कैसा!
काली आँखों में कैसी यौवन के मद की लाली;
मानिक-मदिरा से भर दी किसने नीलम की प्याली?
मत कहो कि यही सफलता कलियों के लघु जीवन की—
मकरंद भरी खिल जाएँ, तोड़ी जाएँ बे-मन की।
यदि दो घड़ियों का जीवन कोमल वृंतों में बीते,
कुछ हानि तुम्हारी क्या है चुपचाप चू पड़ें जीते।
नाविक इस सूने तट पर किन लहरों में खे लाया?
इस बीहड़ बेला में क्या अब तक था कोई आया?
उस पार! कहाँ? फिर जाऊँ तम के मलीन अंचल में,
जीवन का लोभ न है वह वेदना छद्म के छल में।
प्रत्यावर्त्तन के पथ में पद-चिह्न न शेष रहे हैं;
डूबा है हृदय-मरुस्थल, आँसू-निधि उमड़ रहे हैं।
वेदना विकल फिर आई मेरी चौदहों भुवन में,
सुख कहीं न दिया दिखाई, विश्राम कहाँ जीवन में?
उच्छ्वास और आँसू में विश्राम थका सोता है;
रोई आँखों में निद्रा बनकर सपना होता है।
मानव-जीवन-वेदी पर परिणय है विरह-मिलन का;

दुख-सुख दोनों नाचेंगे, है खेल आँख का, मन का।
नचती है नियति नटी सी कंदुक-क्रीड़ा-सी करती,
इस व्यथित विश्व-आँगन में अपना अतृप्त मन भरती।

किरण

किरण, तुम क्यों बिखरी हो आज, रँगी हो तुम किसके अनुराग?
स्वर्ण-सरसिज-किंजल्क समान, उड़ाती हो परमाणु-पराग ॥
धरा पर झुकी प्रार्थना सदृश, मधुर मुरली सी फिर भी मौन।
किसी अज्ञात विश्व की विकल-वेदना-दूती सी तुम कौन ? ॥
अरुण शिशु के मुख पर सविलास, सुनहली लट घुँघुराली कांत।
नाचती हो जैसे तुम कौन ? उषा के अंचल में अश्रांत ॥
भला उस भोले मुख को छोड़, और चूमोगी किसका भाल ?
मनोहर यह कैसा है नृत्य, कौन देता है सम पर ताल ॥
कोकनद मधु धारा सी तरल, विश्व में बहती हो किस ओर ?
प्रकृति को देती परमानंद, उठाकर सुंदर सरस हिलोर।
स्वर्ग के सूत्र सदृश तुम कौन, मिलाती हो उससे भूलोक ?
जोड़ती हो कैसा संबंध, बना दोगी क्या विरज विशोक ॥
सुदिनमणि-वलय-विभूषित उषा-सुंदरी के कर का संकेत !
कर रही हो तुम किसको मधुर, किसे दिखलाती प्रेम-निकेत ?
चपल ! ठहरो कुछ लो विश्राम, चल चुकी हो पथ शून्य अनंत।
सुमन मंदिर के खोलो द्वार, जगे फिर सोया वहाँ वसंत ॥

---

६. रामनरेश त्रिपाठी

जन्मकाल—सं० १९४६

रामनरेश त्रिपाठी का जन्म जौनपुर जिले के कोइरीपुर नामक गाँव में संवत् १९४६ में हुआ। अनेक वर्षों से ये प्रयाग में रहते हैं। वहीं इन्होंने हिंदी-मंदिर नामक प्रेस खोल लिया है और प्रकाशन-कार्य करते हैं। 'बानर' नाम का एक छोटा सा बालोपयोगी मासिक पत्र भी ये अपने संपादकत्व में निकालते हैं। इन्होंने भारतवर्ष की दूर दूर की यात्रा की है और अपनी रचनाओं में सेतुबंध-रामेश्वर, काश्मीर आदि स्थानों का प्रकृति-वर्णन किया है। इन्होंने घूम-फिरकर हजारों ग्राम-गीतों का संग्रह किया है और अब भी कर रहे हैं।

इनकी कविता सरल, सुबोध, स्वाभाविक एवं जोशीली होती है। उसमें राष्ट्रीयता और स्वदेश-प्रेम के भाव खूब भरे रहते हैं। प्रकृति-वर्णन की बहार भी खासी रहती है। कबीर और रवींद्र की भाँति ये संसार से अलग होकर केवल आत्म-कल्याण का साधन करने की अपेक्षा संसार में ही रहकर अपना कर्त्तव्य-पालन करना और अपने बन्धुओं का उपकार करना अधिक अच्छा है इस बात पर बहुत जोर देते हैं। ये गद्य भी लिखते हैं और अच्छा लिखते हैं। इनकी भाषा

संस्कृत-गर्भित पर परिष्कृत, जोरदार और भावानुकूल होती है। इनकी रचनाएँ निम्न-लिखित हैं—

(१) स्वप्न—यह ५ सर्गों का एक छोटा सा खंड-काव्य है। प्रथम और द्वितीय सर्गों में नायक बसंत के मनोभावों का चित्रण सुंदर है।

(२) पथिक—यह भी एक राष्ट्रीय खंड-काव्य है। इसमें दक्षिण-भारत के प्राकृतिक दृश्यों का अच्छा वर्णन है।

(३) मिलन—यह एक छोटा सा खंड-काव्य है।

(४) स्वप्न के चित्र—यह व्यंग्य कहानियों का संग्रह है।

(५) मानसी—यह फुटकर कविताओं का संग्रह है।

(६) बाल-कथा-कहानी—कोई १०-११ भागों में बालोपयोगी कहानियों का संग्रह है। अधिकांश कहानियाँ अँगरेजी कहानियों के आधार पर लिखित हैं।

(७) कविता-कौमुदी भाग १ से ६ तक—प्रथम दो भागों में हिंदी के प्राचीन और अर्वाचीन कवियों की कविताओं का संग्रह है। प्रत्येक कवि का परिचय भी दिया गया है। तीसरे भाग में संस्कृत कवियों और चौथे भाग में उर्दू कवियों की कविताएँ संगृहीत की गई हैं। पाँचवें और छठे भागों में ग्रामगीत संगृहीत हैं।

बसंत की विचार-धारा

(१)

अतिशय चपल, रजत सम उज्ज्वल,
निर्झर-तनया के तट-पथ पर।

युवक बसंत भाव-भारान्वित,
दृग के अर्द्ध कपाट बन्द कर,
विचरण में था निरत एक दिन
मंद-मंद धर चरण-कोकनद,
मानों द्रुम-दल-लसित शैल पर
क्षीर-कांतिमय नूतन नीरद।

(२)

सोच रहा था,—भूतल पर यह
किसकी प्रेम-कथा है चित्रित?
अंबर के उर में किस कवि के
हैं गंभीर भाव एकत्रित?
किसकी सुख-निद्रा का मधुमय
स्वप्न-खंड है विशद विश्व यह?
जग कितना सुंदर लगता है
ललित खिलौनों का सा संग्रह!

(३)

बार बार अंकित करता है
ऋतुओं में सविता किसकी छवि?
मोहित होता है मन ही मन
देख देख किसकी क्रीड़ा कवि?
है वह कौन रूप का आकर,
जिसके मुख की कांति मनोहर,

देखा करती हैं सागर की
व्यग्र तरंगें उचक उचककर ?

(४)

घन में किस प्रियतम से चपला
करती है विनोद हँस हँसकर ?
किसके लिये उषा उठती है
प्रतिदिन कर शृंगार मनोहर ?
मंजु मोतियों से प्रभात में
तृण का मरकत सा सुंदर कर
भर कर कौन खड़ा करता है
किसके स्वागत को प्रतिवासर ?

(५)

प्रात:काल समीर कहाँ से
उपवन में चुपचाप पहुँचकर
क्या संदेश सुना जाता है
घूम घूम प्रत्येक द्वार पर ?
फूलों के आनन अचरज से
खुल पड़ते हैं जिसे श्रवण कर,
थामे नहीं हँसी थमती है,
मुँह मुँदते ही नहीं जन्म भर।

(६)

मारुत जिसके पास राज-कर
　　फूलों से परिमल का लेकर
जाता है प्रति दिवस; कहाँ वह
　　करता है निवास राजेश्वर ?
किसके गान-यंत्र हैं पक्षी,
　　नभ-निकुंज-सर में, पर्वत पर
मधुर-गीत गाते रहते हैं
　　इधर-उधर विचरण कर दिन भर ॥

(७)

मैदानों की ओर घाटियों
　　के पथ से अविराम चपल-गति
पवन घनों को हाँक रहा है
　　पा करके किस प्रभु की अनुमति ?
ढके हुए हैं गिरि-शिखरों को
　　प्रचुर तुहिन पय-फेन-राशि-सम,
शैल देख खिलखिला रहा है
　　मानो कोई दृश्य मनोरम ॥

(८)

अति उत्तुंग, ऊर्मिमय, फेनिल
　　सिन्धु शाप-वश मानो जमकर,

हिम-पर्वत बन गया यकायक
तृण-तरु-गुल्म-लता हैं जलचर।
किसके चिंता-शमन अलौकिक
मधुर गान से कान लगाकर,
ज्ञान भूलकर निज तन का क्यों
है नीरव निःस्तब्ध महीधर ?

(९)

सत्पुरुषों के मनोभाव सा
सरल, विमल, निरलस, कलरवमय,
अपनी ही गति में निमग्न है
धारागत उज्ज्वल फेनिल पय।
पुष्प-भार से अवनत पौधों
से सुखप्रद सुवास सञ्चय कर,
आती हैं मारुत की लहरें,
मन्थर गति से मनोव्यथा-हर॥

(१०)

ये अति सघन सुपल्लव-शोभित
तरुवर शीतल छाँह बिछाकर,
सद्गृहस्थ-सम अतिथि के लिये
रहते हैं प्रस्तुत निशिवासर।
खेतों में, वन में, प्रांतर में,
इतने लाल फूल हैं पुष्पित,

नार लगा करके वन वन में
मानो है अनार आनंदित ॥

(११)

इंद्र-धनुष खेला करता है
झरनों से हिल-मिलकर दिन भर;
तृप्त नहीं होते हैं दृग यह
दृश्य देख अनिमेष अवनि पर।
होता है इस नील झील में
श्यामा का आगमन सुखद अति;
जलक्रीड़ा करते हैं तारे
लहरें लेता है रजनीपति ॥

(१२)

हरियाली में भाँति भाँति के
राशि राशि हैं फूल विमिश्रित ;
गिरि-समूह के अंतराल में
विस्तृत वनस्थली है चित्रित।
भ्रम होता है रंग-बिरंगी
हरित धरा को देख यकायक,
पुरुष-प्रिया की सूख रही हैं
ये मानों साड़ियाँ असंख्यक ॥

(१३)

मैदानों में दूर दूर तक
कितना आकर्षण है सञ्चित ?
नहीं दृष्टि में भर सकता है,
इतना है सौंदर्य सङ्कुलित।
संध्या आने ही वाली है,
कैसा है यह समय मनोहर !
हिम-शिखरों को सजा रहे हैं
सविता स्वर्ण-मुकुट पहनाकर ॥

(१४)

इस विशाल तरुवर चिनार की
अति शीतल छाया सुखदायक,
चरण चूमने को आतुर सी
पहुँची है गिरि की काया तक।
हिम-शृंगों को छोड़ रही हैं
दिनकर की किरणें क्षण क्षण पर;
तिरती हैं वे घन-नौका पर
नभ-सागर में विविध रूप धर ॥

(१५)

मुदित सहस्र-रश्मि ने पकड़ा
चिर सुहागिनी संध्या का कर,

लौट रहा है मानों चेतन
जगत अंशुधर को पहुँचाकर।
बच्चों के अनुराग-डोर से
आकर्षित हो खग-पतंग-चय,
वेगवंत हैं नीड़-दिशा में
विविध - रूप - ध्वनि-रंग-ढंग-मय ॥

(१६)

ढोरों के पीछे चरवाहे
घर की ओर, विपिन के पथ पर,
देते हैं सूचना साँझ की
मुरली के मधुमय स्वर में भर।
विरह-भार से नत मलाह-गण
चले गुणवती नौका लेकर;
कोई गुणवंती इनको भी
खींच रही है क्या पद पद पर ?

(१७)

ये अनुराग भरे धरणीधर,
ग्राम-निकर ये शांति-समन्वित,
प्रिय की सुधि सी ये सरिताएँ,
ये कानन कांतार सुसज्जित,
हरित भूमि के मध्य विमल पथ,
पुष्पित लता, प्रसून मनोरम,

बाट जोहते हैं सुख लेकर
घर के बाहर मूक मित्र सम।

(१८)

यहाँ नहीं है राग-द्वेष से
हृदय तरंगित होने का भय;
यहाँ कपट-व्यवहार नहीं है,
और नहीं जन-जन पर संशय।
यहाँ नहीं मन में जगता है
प्रतिहिंसा की वृत्ति भयावह;
केवल है सौंदर्य शांति सुख;
कैसी है रमणीय जगह यह!

(१९)

जग को आँखों से ओझलकर,
बरबस मेरी दृष्टि उठा कर,
झिलमिल करते हुए गगन में
तारों के पथ पर पहुँचाकर,
करता है संकेत देखने
को किसका सौंदर्य मनोरम,
आकर के चुपचाप कहीं से
यह संध्या का तम, अति प्रियतम?

(२०)

हा ! यह फूल किसी दिन अपनी
अनुपम सुंदरता से गर्वित,
आया था जग में उमंग से
किसी वासना से आकर्षित।
पर देखा क्या ? क्षण-भंगुर सुख,
आशा और मृत्यु का संगर;
मुरझ गया होकर हताश अति,
सौरभ का निःश्वास छोड़कर।

(२१)

जग क्या है ? किसलिये बना है ?
क्यों है यह इतना आकर्षक ?
कब से हूँ सचेत, पर फिर भी
इसका खुला रहस्य न अब तक।
मैं जिसके निर्मल प्रकाश में
करता हूँ दिन-रात अतिक्रम,
ज्योति-मूल वह कहाँ प्रकट है ?
बाहर है किसका छाया-तम ?

(२२)

अद्भुत जग किस चित्रकार की
कुशल लेखनी का है चित्रण ?

किसके है विनोद का कारण
भिन्न स्वभावों का यह मिश्रण ?
यद्यपि तनधारी समस्त हैं
जग में भिन्न प्रकृति-आकृति-मय,
पर सबमें सर्वत्र व्याप्त है
एक समान अपार मृत्यु-भय।

(२३)

सब में एक समान अहर्निश
सुख की अभिलाषा है उत्कट;
प्रबल वेग से खींच रही है
आशा इस संसार का शकट।
रे मनुष्य ! तेरा क्या कोई
नहीं जगत में है निश्चित पथ ?
अंधकार में अंध सारथी
हाँक रहा है किधर जीर्ण रथ ?

(२४)

कभी कभी इस व्यथित हृदय में
उठता है तूफान अचानक;
मैं तरु से टूटे पत्ते की
भाँति न जाने कहाँ कहाँ तक,
पता नहीं किसकी तलाश में,
उड़ता रहता हूँ प्रवाह पर;

वह तूफान चला जाता है
मुझे 'आह' के साथ छोड़कर।

(२५)

करुणामय, कर कृपा खोल दो
मेरे विमल विवेक-विलोचन;
मेरे जीवन में ऋषियों का
तप भर दो भव-भीति-विमोचन;
आर्यों के आदर्श मार्ग पर
मेरा हो प्रयत्न अवलम्बित;
मेरे बहिर्जगत में मेरा
अंतर्जीवन हो प्रतिबिम्बित।

(२६)

मुझको निज भविष्य में, हे हरि,
बना रहे विश्वास अचंचल;
तेरे अन्वेषण में, हे प्रभु,
बीते मेरा एक एक पल।
हाय! कहाँ है वह दिन, जब मैं
प्रियतम की तलाश में चलकर,
आऊँगा घर पर न लौटकर
फिर, सुगंध की भाँति निकलकर॥

---

७. सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला'

जन्म-काल—संवत् १९५५

सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' कान्यकुब्ज ब्राह्मण हैं। इनका जन्म बंगाल प्रांत के मेदिनीपुर जिले के अंतर्गत महिषादल राज्य में संवत् १९५५ में हुआ। इन्होंने मैट्रिक तक शिक्षा प्राप्त की है। हिंदी, संस्कृत, बँगला आदि का इनको अच्छा ज्ञान है। संगीत तथा मल्ल-विद्या के भी ये अच्छे अभ्यासी हैं। बँगाल में रहने से वंग-साहित्य का इन्हें अच्छा परिचय है। कविता की ओर इनकी बाल्यकाल से ही रुचि थी। पहले कुछ दिनों तक ये बँगला भाषा में कविता करते रहे पर आगे चलकर इन्होंने हिंदी की ओर ध्यान दिया। समन्वय नामक पत्र का संपादन भी इन्होंने कई वर्षों तक किया था।

'निराला'जी हिंदी के निराले कवि हैं। हिंदी के नवीन-युग-प्रवर्त्तक कवियों में इनकी गणना की जाती है। इनकी रचनाओं पर बँगला-साहित्य का बहुत प्रभाव पड़ा है। 'प्रसाद'जी की तरह ये भी रहस्यवादी कवि हैं। दार्शनिकता के कारण इनकी कविताएँ अनेक स्थानों पर बहुत कठिन हो गई हैं।

इनकी भाषा संस्कृत-गर्भित होती है। उसमें पंत की सी कोमलता और सुकुमारता नहीं पाई जाती। इनकी मुख्य विशेषता इनका छंद है। उसके चरणों में मात्राओं या वर्णों की कोई निश्चित संख्या नहीं रहती। कोई चरण बहुत छोटा है तो कोई बहुत बड़ा। परंतु उसमें गति अवश्य वर्त्तमान है जो उसको गद्य से भिन्न करती है। इस विषय में अमेरिकन कवि वाल्ट ह्विटमैन इनसे मिलते हैं। इनकी अनेक कविताएँ नियमित छंदों में भी हैं।

निरालाजी की कविताओं के दो संग्रह छपे हैं—(१) अनामिका, (२) परिमल। गीतिका नाम से इनके गानों का एक संग्रह शीघ्र ही प्रकाशित होनेवाला है। इसके अतिरिक्त इन्होंने अप्सरा नामक एक उपन्यास भी लिखा है। ये आजकल कहानियाँ भी लिखने लगे हैं परंतु इस ओर सफलता प्राप्त नहीं कर सके हैं।

प्रपात के प्रति

अचल के चंचल क्षुद्र प्रपात!
मचलते हुए निकल आते हो,
उज्ज्वल! घन-वन-अंधकार के साथ
खेलते हो क्यों? क्या पाते हो?

अंधकार पर इतना प्यार!
क्या जाने यह बालक का अविचार?
बुद्ध का या कि साम्य-व्यवहार!

तुम्हारा करता है गति-रोध
पिता का कोई दूत अबोध—
किसी पत्थर से टकराते हो,
फिरकर जरा ठहर जाते हो—
उसे जब लेते हो पहचान,
समझ जाते हो उस जड़ का सारा अज्ञान,
फूट पड़ती है ओठों पर तब मृदु मुसकान,
बस अजान की ओर इशारा करके चल देते हो.
भर जाते हो उसके अंतर में तुम अपनी तान।

तरंगों के प्रति

किस अनंत का नीला अंचल हिला हिलाकर
आती हो तुम सजी मंडलाकार ?
एक रागिनी में अपना स्वर मिला मिलाकर
गाती हो ये कैसे गीत उदार ?
सोह रहा है हरा क्षीण कटि में अंबर शैवाल,
गाती आप, आप देती सुकुमार करों से ताल;
चंचल चरण बढ़ाती हो,
किससे मिलने जाती हो ?
तैर तिमिर-तल भुज मृणाल से सलिल काटती,
आपस में ही करती हो परिहास,
हो मरोरती गला शिला का कभी डाँटती,
कभी दिखाती जगती-तल को त्रास,

गंध-मंद-गति कभी पवन का मौन-भंग उच्छ्वास
छाया शीतल तट-तल में आ तकती कभी उदास,
क्यों तुम भाव बदलती हो—
हँसती हो, कर मलती हो ?
बाहें अगणित बढ़ा जा रही हृदय खोलकर,
किसके आलिंगन का है यह साज ?
भाषा में तुम पिरो रही हो शब्द तोलकर,
किसका यह अभिनंदन होगा आज ?
किसके स्वर में आज मिला दोगी वर्षों का गान ?
आज तुम्हारा किस विशाल वक्षःस्थल में अवसान ?
आज जहाँ छिप जाओगी,
फिर न हाय ! तुम गाओगी।
बहती जातीं साथ तुम्हारे विस्मृतियाँ कितनी,
दग्ध चिता के कितने हाहाकार !
नश्वरता की—थीं सजीव जो—कृतियाँ कितनी,
अबलाओं की कितनी करुणा-पुकार !
मिलन-मुखर तट की रागिनियों का निर्भय गुंजार,
शंकाकुल कोमल मुख पर व्याकुलता का संचार,
उस असीम में ले जाओ,
मुझे न कुछ तुम दे जाओ !

विफल-वासना

गूँथे तप्त अश्रुओं के मैंने कितने ही हार

बैठी हुई पुरातन स्मृति की मलिन गोद पर प्रियतम !
रुद्ध द्वार पर रक्खे थे मैंने कितने ही बार
अपने वे उपहार कृपा के लिये तुम्हारी अनुपम !
मेरे दग्ध हृदय का अतिशय ताप
प्रभाकर की उन खर किरणों में
नूपुर सी मैं बजी तुम्हारे लिये
तुम्हारी अनुरागिनियों के निष्ठुर चरणों में।
हँसता हुआ कभी आया जब
वन में ललित वसंत
तरुण विटप सब हुए, लताएँ तरुणी,
और पुरातन पल्लव-दल का
शाखाओं से अंत
जब बढ़ी अर्घ्य देने को तुमको
हँसती वे वल्लरियाँ
लिए हरे अंचल में अपने फूल
एक प्रांत में खड़ी हुई मैं
देख रही थी स्वागत
चुभते पर हाय ! नाथ !
मर्म-स्थल में जो शूल
उन्हें कैसे प्रिय बतलाऊँ मैं ?
कैसे दुख-गाथा गाऊँ मैं ?
छिन्न प्रकृति के निर्दय आघातों से हो जाते हैं

जो पुष्प, नहीं कहते कुछ, केवल रो जाते हैं
वे अपना यौवन-पराग-मधु खो जाते हैं
अंतिम श्वास छोड़ पृथ्वी पर सो जाते हैं !
वैसे ही मैंने अपना सर्वस्व गँवाया
रूप और यौवन-चिता में; पर क्या पाया ?
प्रेम ? हाय ! आशा का वह भी स्वप्न एक था
विफल हृदय तो आज दुःख ही दुःख देखता !
तुम्हें कहूँ मैं, कहो, प्रेम-मय,
अथवा दुख के देव, सदा ही निर्दय ?

अंजलि

बंद तुम्हारा द्वार !
मेरे सुहाग-शृंगार !
द्वार यह खोलो—
सुनो भी मेरी करुण पुकार
जरा कुछ बोलो !
हृदय-रत्न मैं बड़े यत्न से आज
कुसुमित कुंज-द्रुमों से सुरभित साज
संचित कर लाई, पर कब से वंचित !
ले लो, प्रिय, ले लो, हार नहीं
यह नहीं प्यार का मेरे
कोई अमूल्य उपहार,—

नहीं कहीं भी है इसमें
मेरा नाम-निशान,
और मुझे क्यों होगा भी अभिमान ?
पर नहीं जानती अगर सुमन-मन-मध्य
समाई हो मेरी लाज
माला के पड़ते ही विजय-हृदय पर
छीन ले तुमसे मेरा राज
कहो मनोरथ-पथ का, मेरे प्रियतम,
बंद किया क्यों द्वार
सोते हुए देखते हो तुम स्वप्न ?—
या नंदन-वन के पारिजात-दल लेकर
तुम गूँथ रहे हो और किसी का हार ?
उस विहार में पड़े हुए तुम मेरा
यों करते हो परिहार ?
बिछे हुए थे काँटे उन गलियों में
जिनसे मैं चलकर आई—
पैरों में छिद जाते जब
आह मार मैं तुम्हें याद करती तब
राह प्रीति की अपनी—वही कंटकाकीर्ण—
अब मैं ने तै कर पाई ।
पड़ी अँधेरे के घेरे में कब से
खड़ी संकुचित है कमलिनी तुम्हारी,

मन के दिन-मणि, प्रेम-प्रकाश !
उदित हो आओ, हाथ बढ़ाओ,
उसे खिलाओ, खोलो, प्रियतम, द्वार,
पहन लो उसका यह उपहार
मृदु-गंध परागों से उसके तुम कर दो
सुरभित प्रेम-हरित स्वच्छंद
द्वेष-विष-जर्जर यह संसार।

जागो फिर एक बार

जागो फिर एक बार !
प्यारे जगाते हुए हारे सब तारे तुम्हें
अरुण-पंख तरुण-किरण
खड़ी खोल रही द्वार—
जागो फिर एक बार !
आँखें अलियों सी
किस मधु की गलियों में फँसी
बंद कर पाँखें
पी रही हैं मधु मौन
अथवा सोई कमल-कोरकों में
बंद हो रहा गुंजार—
जागो फिर एक बार !
अस्ताचल ढले रवि
शशि-छवि विभावरी में

चित्रित हुई है देख
यामिनी-गंधा जगी,
एक टक चकोर-कोर दर्शन-प्रिय
आशाओं भरी मौन भाषा बहु-भाव-मयी
घेर रही चंद्र को चाव से,
शिशिर-भार-व्याकुल कुल
खुले फूल झुके हुए
आया कलियों में मधुर
मद-उर यौवन-उभार—
जागो फिर एक बार !
पिउ-रव पपीहे प्रिय बोल रहे
सेज पर विरह-विदग्धा-वधू
याद कर बीती बातें, रातें मन-मिलन की
मूँद रही पलकें चारु
नयन-जल ढल गए
लघुतर कर व्यथा-भार
जागो फिर एक बार !
सहृदय समीर जैसे
पोंछो प्रिय नयन-नीर
शयन-शिथिल बाहें
भर स्वप्निल आवेश में
आतुर उर वसन-मुक्त कर दो,

सब सुप्ति सुखोन्माद हो;
छूट छूट अलस
फैल जाने दो पीठ पर
कल्पना से कोमल
ऋजु-कुटिल प्रसार-गामी केश-गुच्छ।
तन-मन थक जायँ,
मृदु सुरभि सी समीर में
बुद्धि बुद्धि में हो लीन,
मन में मन, जी जी में,
वह एक अनुभव बहता रहे
उभय आत्माओं में,
कब से मैं रही पुकार—
जागो फिर एक बार!
उगे अरुणाचल में रवि
आई भारती-रति कवि-कंठ में,
क्षण क्षण में परिवर्त्तित
होते रहते प्रकृति-पट,
गया दिन, आई रात,
गई रात, खुला दिन,
ऐसे ही संसार के बीते दिन, पक्ष, मास
वर्ष कितने ही हजार—
जागो फिर एक बार!

८. सुमित्रानंदन पंत

जन्मकाल—सं० १९५८

सुमित्रानंदन पंत अलमोड़े के पर्वतीय ब्राह्मण हैं। इनका जन्म संवत् १९५८ में हुआ। स्कूललीविंग परीक्षा पास करने के पश्चात् इन्होंने प्रयाग के म्योर सेंट्रल कालेज में नाम लिखाया। वहाँ इंटरमीजियट तक शिक्षा प्राप्त की पर परीक्षा देने के पहले ही कालेज छोड़ दिया। अब भावुकता की स्वाधीनता-मय गोद को अपना शिक्षालय बनाकर उसी से शिक्षा प्राप्त करने लगे। कविता से इन्हें स्वाभाविक प्रेम था। इन्होंने विवाह नहीं किया; कविता करते हैं और आनंद में विचरण करते हैं।

पंतजी की कविताएँ हिंदी में सर्वथा नवीन ढंग की हैं। वे हिंदी के नवीन-युग-प्रवर्त्तक कवि हैं। वर्त्तमान हिंदी कवियों में उनका सर्व-प्रथम स्थान समझा जाता है। उन्होंने अँगरेजी साहित्य का अच्छा अध्ययन किया है अत: उनकी रचना पर अँगरेजी का बहुत प्रभाव पड़ा है जो स्वाभाविक है। पर अँगरेजी भाव अधिकांश में हिंदी के अनुरूप होकर ही आए हैं। उनकी कविता में भाव-गांभीर्य और प्रवाह अच्छा पाया जाता है पर भावों की विविध-रूपता का अभाव है। प्रकृति

का उपयोग उन्होंने खूब किया है और अच्छा किया है। बाह्य प्रकृति और मनोभावों का ऐसा सुंदर सम्मिलन दूसरे कवियों में नहीं पाया जाता।

पंतजी ने सदा खड़ी बोली में ही रचना की है। उनकी भाषा बहुत संस्कृत-गर्भित होती है परंतु उसका माधुर्य अनुपम होता है। शब्दों के चुनाव का वे बड़ा ध्यान रखते हैं। भावानुरूपता भी उनकी भाषा का एक प्रधान गुण है। छंद-योजना में भी उन्होंने अपनी स्वाभाविक स्वतंत्रता से काम लिया है। पद्य की भाँति गद्य भी वे उत्कृष्ट श्रेणी का लिखते हैं।

उनकी कविता के पाँच संग्रह प्रकाशित हुए हैं जिनके नाम निम्नलिखित हैं—

(१) उच्छ्वास, (२) वीणा, (३) पल्लव, (४) ग्रंथि (अतुकांत वृत्तात्मक एक करुणा-पूर्ण प्रेम-कथा) और (५) गुंजन।

काला तो यह बादल है

काला तो यह बादल है!
कुमुद-कला है जहाँ किलकती
वह नभ जैसा निर्मल है,
मैं वैसी ही उज्ज्वल हूँ, मा,
काला तो यह बादल है!

मेरा मानस तो, शशि-हासिनि,
तेरी क्रीड़ा का स्थल है,
तेरे मेरे अंतर में, मा,
काला तो यह बादल है !

तेरी किरणों से ही उतरा,
मोती-सा शुचि हिम-दल है,
मा, इसको भी छू दे कर से,
काला जो यह बादल है !

तब तू देखेगी, मेरा मन
कितना निर्मल, निश्छल है,
जब दृग-जल बन बह जावेगा
काला जो यह बादल है !

कुसुम-जीवन

कुसुमों के जीवन का पल
हँसता ही जग में देखा;
इन म्लान मलिन अधरों पर
स्थिर न रही स्मिति की रेखा !

बन की सूनी डाली पर
सीखा कलि ने मुसकाना;
मैं सीख न पाया अब तक
सुख से दुख को अपनाना।

काँटों से कुटिल भरी हो
यह जटिल जगत की डाली,
इसमें ही तो जीवन के
पल्लव की फूटी लाली।

अपनी डाली के काँटे
वेधते नहीं अपना तन,
सोने सा उज्ज्वल बनने
तपता नित प्राणों का धन।

दुख-दावा से नव अंकुर
पाता जग-जीवन का बन,
करुणार्द्र विश्व की गर्जन
बरसाती नव-जीवन-कण!

झर गई कली

झर गई कली, झर गई कली!
चल-सरित-पुलिन पर वह विकसी,
उर के सौरभ से सहज-बसी
सरला प्रातः ही तो विहँसी,
रे कूद सलिल में गई चली!
आई लहरी चुंबन करने,
अधरों पर मधुर अधर धरने,
फेनिल मोता से मुँह भरने,
वह चंचल सुख से गई छली!

आती ही जाती नित लहरी,
कब पास कौन किसके ठहरी?
कितनी ही तो कलियाँ फहरीं,
सब खेलीं, हिलीं, रहो सँभलो!
निज वृंत पर उसे खिलना था,
नव नव लहरों से मिलना था,
निज सुख-दुख सहज बदलना था,
रे गेह छोड़ वह बह निकली!
है लेन-देन ही जग-जीवन
अपना पर सबका अपनापन
खो निज आत्मा का अक्षय-धन
लहरों में भ्रमित, गई निगली!

प्रथम रश्मि

प्रथम-रश्मि का आना रंगिणि!
तू ने कैसे पहचाना?
कहाँ, कहाँ, हे बाल-विहंगिनि!
पाया तूने यह गाना?
सोई थी तू स्वप्न-नीड़ में
पंखों के सुख में छिपकर,
ऊँघ रहे थे, घूम द्वार पर
प्रहरी से जुगनू नाना!

शशि-किरणों से उतर उतरकर
भू पर काम-रूप नभचर,
चूम नवल कलियों का मृदु-मुख
सिखा रहे थे मुसकाना !
स्नेह-हीन तारों के दीपक,
श्वास-शून्य थे तरु के पात
विचर रहे थे स्वप्न अवनि में,
तम ने था मंडप ताना।
कूक उठी सहसा तरु-वासिनि !
गा तू स्वागत का गाना,
किसने तुझको अंतर्यामिनि !
बतलाया उसका आना।
निकल सृष्टि के अंध-गर्भ से
छाया-तन बहु छाया-हीन,
चक्र रच रहे थे खल निशिचर
चला कुहुक, टोना-माना।
छिपा रही थी मुख शशि-बाला
निशि के श्रम से हो श्री-हीन,
कमल-क्रोड़ में बंदी था अलि,
कोक शोक से दीवाना।
मूर्छित थीं इंद्रियाँ स्तब्ध जग
जड़ चेतन सब एकाकार,

शून्य विश्व के उर में केवल
साँसों का आना-जाना।
तूने ही पहले बहुदर्शिनि !
गाया जागृति का गाना,
श्री, सुख, सौरभ का नभ-चारिणि !
गूँथ दिया ताना-बाना।
निराकार-तम मानो सहसा
ज्योति-पुंज में हो साकार,
बदल गया द्रुत जगज्जाल में
धरकर नाम-रूप नाना।
सिहर उठे पुलकित हो द्रुम-दल,
सुप्त समीरण हुआ अधीर,
झलका हास कुसुम-अधरों पर
हिल मोती का सा दाना।
खुले पलक, फैली सुवर्ण-छबि,
खिली सुरभि, डोले मधु-बाल,
स्पंदन, कंपन, नव-जीवन फिर
सीखा जग ने अपनाना।
प्रथम-रश्मि का आना रंगिणि !
तूने कैसे पहचाना ?
कहाँ कहाँ हे बाल-विहंगिनि !
पाया यह स्वर्गिक गाना ?

छाया

कहो कौन हो दमयंती सी
तुम तरु के नीचे सोई ?
हाय ! तुम्हें भी त्याग गया क्या
अलि ! नल सा निष्ठुर कोई ?

पीले पत्तों की शय्या पर
तुम विरक्ति सी मूर्छा सी
विजन विपिन में कौन पड़ी हो
विरह-मलिन दुख-विधुरा सी ?

× × ×

पछतावे की परछाईं सी
तुम भू पर छाई हो कौन ?
दुर्बलता, अँगड़ाई ऐसी
अपराधी सी, भय से मौन ?

× × ×

निर्जनता के मानस-पट पर
बार बार भर ठंडी साँस—
क्या तुम छिपकर क्रूर काल का
लिखती हो अकरुण इतिहास ?

× × ×

निज जीवन के मलिन पृष्ठ पर
नीरव शब्दों में निर्भर

× × ×

किस अतीत का करुण चित्र तुम
खींच रही हो कोमलतर !

× × ×

दिनकर-कुल में दिव्य जन्म पा,
बढ़कर नित तरुवर के संग,
मुरझे पत्रों की साड़ी से
ढँककर अपने कोमल अंग;

× × ×

पर-सेवा-रत रहती हो तुम
हरती नित पथ-श्रांति अपार,

× × ×

हाँ सखि! आओ बाँह खोल हम
लगकर गले जुड़ा लें प्राण,
फिर तुम तम में; मैं प्रियतम में,
हो जावें द्रुत अंतर्धान।

सोने का गान

कहो हे प्रमुदित विहग-कुमारि !
कहाँ से आया यह प्रिय गान ?
तुहिन-बन में छाई सुकुमारि !
तुम्हारी स्वर्ण-जाल सी तान !

उषा की कनक-मदिर मुसकान
उसी में था क्या यह अनजान ?
भला उठते ही तुमको आज
दिलाया किसने इसका ध्यान ?
स्वर्ण-पंखों की विहग-कुमारि !
अमृत है यह पुलकों का गान !
विटप में थी तुम छिपी विहान,
विकल क्यों हुए अचानक प्राण ?
छिपाओ अब न रहस्य, कुमारि !
लगा यह किसका कोमल बाण ?
विजन वन में तुमने, सुकुमारि !
कहाँ पाया यह मेरा गान ?
स्वप्न में आकर कौन सुजान
फूँक सा गया तुम्हारे कान ?
कनक-कर बढ़ा बढ़ाकर प्रात
कराया किसने यह मधु-पान
मुझे लौटा दो, विहग-कुमारि !
सजल मेरा सोने का गान !

मौन निमंत्रण

स्तब्ध ज्योत्स्ना में जब संसार
चकित रहता शिशु सा नादान,

विश्व के पलकों पर सुकुमार
विचरते हैं जब स्वप्न अजान,
न जाने, नक्षत्रों से कौन
निमंत्रण देता मुझको मौन !

सघन मेघों का भीमाकाश
गरजता है जब तमसाकार,
दीर्घ भरता समीर निःश्वास,
प्रखर झरती जब पावस-धार,
न जाने, तपक तड़ित में कौन
मुझे इंगित करता तब मौन !

देख वसुधा का यौवन-भार
गूँज उठता है जब मधु-मास,
विधुर उर के से मृदु उद्गार
कुसुम जब खुल पड़ते सोच्छ्वास,
न जाने, सौरभ के मिस कौन
सँदेशा मुझे भेजता मौन !

क्षुब्ध जल-शिखरों को जब वात
सिंधु में मथकर फेनाकार
ल लों का व्याकुल संसार
ा बु, बिथुरा देती अज्ञात
उठा तब लहरों से कर मौन
न जाने, मुझे बुलाता कौन !

स्वर्ण, सुख, श्री, सौरभ में भोर
विश्व को देती है जब बोर
विहग-कुल की कलकंठ-हिलोर
मिला देती भू-नभ के छोर
न जाने, अलस-पलक-दल कौन
खोल देता तब मेरे मौन!

तुमुल तम में जब एकाकार
ऊँघता एक साथ संसार,
भीरु झींगुर-कुल की झनकार
कँपा देती तंद्रा के तार,
न जाने, खद्योतों से कौन
मुझे पथ दिखलाता तब मौन!

कनक-छाया में जब कि सकाल
खोलती कलिका उर के द्वार,
सुरभि-पीड़ित मधुपों के बाल
तड़प बन जाते हैं गुंजार,
न जाने ढुलक ओस में कौन
खींच लेता दृग मेरे मौन!

बिछा कार्यों का गुरु-तर भार
दिवस को दे सुवर्ण-अवसान
शून्य शय्या में अमित अपार
जुड़ाती जब मैं आकुल प्राण

न जाने, मुझे स्वप्न में कौन
फिराता छाया-जग में मौन !

न जाने कौन, अये द्युतिमान,
जान मुझको अबोध, अज्ञान
सुझाते हो तुम पथ अनजान,
फूँक देते छिद्रों में गान,
अहे सुख-दुख के सहचर मौन !
नहीं कह सकती तुम हो कौन !

टिप्पणी

१. कबीरदास

साखी

साखी—ज्ञान के दोहे।

दोहा १–६—जोइ करि—जलाकर। चाँनिणौं—प्रकाश। कसतूरी कै मिरग इ०—कस्तूरी-मृग की नाभि में कस्तूरी होती है पर उसे यह मालूम नहीं होता; कस्तूरी की गंध से मस्त होकर वह चारों ओर ढूँढ़ता फिरता है कि यह गंध कहाँ से आ रही है। कुंजाँ (राजस्थानी)—कुंजें; क्रौंच पक्षी। ये प्रायः सरोवर के किनारे रहते और झुंड बनाकर आकाश में उड़ा करते हैं। इनका स्वर बड़ा ही करुण-रस-पूर्ण होता है। कुरलियाँ—कुरलीं; करुण शब्द से बोलीं। कुरलना कलरव से बना है। गरजि—शब्द से; प्रतिध्वनि से। अंबर इ०—सरोवरों से कुंजें बिछुड़ीं तो वे भी करुण शब्द से भर उठे, तो फिर जिनसे गोविंद बिछुड़ जायँ उनका भला क्या हाल होगा? (या, सरोवरों से बिछुड़ती हुई कुंजों ने इतना करुण शब्द किया कि उससे सब स्थान, सरोवर तक भी, भर गए। इसी प्रकार जो परमात्मा से बिछुड़ गए हैं वे भी सदा करुण शब्द किया करते हैं।) घनहर—मेघ। चातक ज्यों इ०—चातक केवल स्वाति-नक्षत्र का जल पीता है, नहीं तो प्यासा ही रहता है। आँथव्यो (राज०)—अस्त हुआ। वा देस—परमात्मा की ओर संकेत। रैण—रजनी। कदे (राज०)—कभी।

दो० ७–१७—छक्या रहै (राज०)—छके रहते हैं। पंथ-सिर—मार्ग पर। सिर (राज०)—में; पर; ऊपर; बीच में। झाँई पड़ना—ज्योति मंद होना। छाला पड़्या (राज०)—छाले पड़े। नैनाँ इ०—नेत्रों ने झरना सा बना रखा है। रहट—पानी निकालने का यंत्र; रात-दिन पानी निकलता रहता है (रुदन)। रग—शरीर की नसें। रबाब—ताँत का एक बाजा। बिरह बजावै इ०—विरह से नित्य झंकृत होता रहता है। साँई (स्वामी)—प्रियतम; परमात्मा। दौं—दवाग्नि। लाई—लगाई। दुहागिनि—पति-प्रेम-वंचिता; पति-परित्यक्ता। जेते तारे इ०—रात्रि में जितने तारे हैं उतने ही वैरी हो जायँ, सूली दे दी जाय और सिर को कँगूरों पर लटका दिया जाय तो भी परमात्मा के प्रेम को नहीं भूल सकता (पहले अपराधियों के सिर काटकर किले के कँगूरों पर लटकवा दिए जाते थे)। बूँद, समँद—जीवात्मा और परमात्मा की ओर संकेत। मैं था—अहं-भाव था। मैं नाहिं—अहं-भाव और द्वैतता का नाश हो गया। दीपक—ज्ञान का दीपक (या परमात्मा की ओर संकेत)।

दो० १८–२८—बनराइ (वनराजि)—जंगल। जाँणै—जानता है। उस—जो बरसता है। जाणई—जानता है। वूठा (राज०)—वृष्ट; बरसा हुआ। बरखिया—बरसा। पाँहण—पत्थर; हृदय-हीन मूढ़ की ओर संकेत। सैंजल—सजल; नरम। तेह—तेज; कठोरता। अमी (अमृत)—प्रेम-रूपी। दामिनी—बिजली (ईश्वरीय ज्योति की ओर संकेत)। भीजै—प्रेम में पूर्ण मग्न होते हैं।

सुभर—खूब भरा हुआ। जल—सर्वत्र व्याप्त परमात्मा। हंसा—(१) हंस पक्षी, (२) जीवात्मा। मुगताहल—(१) मुक्ताफल; मोती, (२) मुक्ति। मुगता—मुक्त हुए। अनत—अन्यत्र। खुमारि—नशा; मस्ती। मैमंता—मदमस्त। सारि—सुधि; खबर। जाँखियै—समझ लो कि। परसै—देखे या पावे। खाला—मौसी। खाला का घर—सहज कार्य्य। अघट—न घटनेवाला। पिंजर—देह।

दो० २६–३६—सहजै—परमात्मा को। जाल्या—जला दिया। मुराड़ा—जलती लकड़ी। घर जालौं इ०—परमात्मा का प्रेम प्राप्त करने के लिये संसार की सब वस्तुओं का त्याग करना होता है। मिरग ज्यूँ—हरिण नाद का बड़ा प्रेमी होता है। नाद सुनकर वह बिलकुल पास चला आता है और उसी में मग्न हो जाता है। तब बधिक उसे सहज में ही मार लेता है। रहियै लागि—सहारा ले रहें। आगि—दुःख; चिंता; वासनाएँ; स्वार्थ। काजल केरी कोटड़ी... कोट—इस संसार में, चाहे कितना ही बचावे, धब्बा लग ही जाता है। निरास—निराशा के बराबर; व्यर्थ। पानी इ०—जो परमात्मा की आशा नहीं करते वे पानी में रहकर भी प्यासे मरते हैं। भी (राज०)—फिर। दीवै बाति—शरीर में आत्मा का प्रकाश है। तेल—शक्ति। हरियर इ०—युवा युवा पुरुष भी काल के ग्रास बन गए। जावसी (राज०)—जायगी। झबूकती—प्रकाशित थी। जोति—ज्योति (आत्मा)। हंस-बटाऊ—जीव-रूपी पथिक। छोति—छूत; मलिन और अस्पृश्य वस्तु (शरीर)।

दो० ४०–५४—चक्की—संसार-चक्र; काल-चक्र। दुइ पाटन—पृथ्वी और आकाश। साबित—पूरा। भार—पाप-पुण्य का। थली—सूखी भूमि। सौंण—बधिक (काल)। मिरग लै—मृग को। हम तो इ०—मृग की उक्ति; हम तो दूसरे लोक के यात्री होकर मार्ग पर चल पड़े, अब जो हरी घास उगेगी उसे कौन चरेगा (हम नहीं चर सकते)! भँवरा—जीव की ओर संकेत। बेल—बिल्व-फल का पौधा; जिसमें काँटे होते हैं (विषय-वासना की ओर संकेत)। पगड़ा—प्रभात। उगवैं तैं—उगने पर। थिर थिर—दृढ़ समझकर। सेती—से। रूसणा—रूसना। हेत—प्रेम। नीपजै—धान्य उत्पन्न होना; सफल होना; सुखी होना; तरना। कालर—ऊसर। वाग (वर्ग)—झुंड। जिनि—मत। डावांडोलां—झुंड के बिछुड़ने से व्याकुल। सेमर (शाल्मली)—सेमल का पेड़। सुअना—सुग्गा। ढेंढी—कपास आदि का डोडा। चटाक दै—चटचट आवाज के साथ। सेमर इ०—सेमल में मोटे दल के बड़े बड़े और गहरे लाल रंग के फूल आते हैं और उनमें डोडे आते हैं। सुग्गा गहरे लाल रंग से समझता है कि खूब रस होगा और फलों की आशा लगाए रहता है पर फल जब पकते हैं तो उनमें, रस या गूदे की जगह, रुई निकलती है। सेमर के फलों या डोडों की निस्सारता भारतीय कवि-परंपरा में बहुत काल से प्रसिद्ध है।

सबद

सबद—ज्ञान के पद या भजन, अनहद नाद नामक ईश्वरीय शब्द के प्रकाश से युक्त पद।

पद १—सबेरा—सबेला; शीघ्र। झपट लेत—इसका कर्त्ता काल (लुप्त) है। लेत इ०—मनुष्य-देह में जीवात्मा ऐसे ही रहता है जैसे कोई उड़ता हुआ पक्षी कहीं थोड़ी देर के लिये बसेरा लेता है। या नगरी—अर्थात् शरीर। कोइ—छंद-पूर्त्यर्थ व्यर्थ शब्द। न—नहीं तो।

पद २—सत्त—परमात्मा। मेले जाय इ०—किसी महंत या साधु के मरने पर उसके संप्रदाय के सब साधुओं को जिमाया जाता है और उनको दक्षिणा दी जाती है, इसे मेला कहते हैं और मेले में आए हुए महंतों को जो दक्षिणा दी जाती है उसे पूजा कहते हैं। अनहद सबद—अनाहत नाद; योगी जब समाधिस्थ होता है तब उसके ब्रह्मरंध्र के समीप के वातावरण में (जिसे आकाश या शून्य-मंडल भी कहते हैं) एक प्रकार का ईश्वरीय संगीत होता रहता है। सुनावै—सुनाई पड़ता है। संग—आसक्ति। सुरत (स्मृति)—स्मरण या ध्यान। निरभय इ०—सब भय से रहित परमात्मा के पद को पहुँचाता है।

पद ३—अवधू—अवधूत; साधु। समावै—जावे। भुक्ति—भोग। अलख—अलक्ष्य; परमात्मा। सहज—परमात्मा। सुन्न (शून्य)—ब्रह्मरंध्र का छिद्र जो शून्य या बिंदु (०) रूप होता है। इसी स्थान पर ब्रह्म का निवास माना जाता है। प्राणायाम की उत्कृष्ट स्थिति में इसी बिंदु में आत्मा को ले जाते हैं और यहीं आत्मा शरीर से स्वतंत्र होकर सोऽहम् (मैं वही हूँ) का अनुभव करती है। योगी जन प्राणायाम के द्वारा इसे बंद करने का प्रयत्न करते हैं जिससे

हृदय की सब क्रियाएँ बंद हो जाती हैं। बस्तु—अर्थात् परमात्मा। ज्यों का त्यों ठहरावै—यथार्थ ज्ञान को समझ लेता है।

पद ४—पियारी—जीवात्मा की ओर संकेत। पिय—परमात्मा को ओर संकेत। धुन—(गलत छपा है, धन चाहिए)—धन (सं० धन्या)—नायिका; स्त्री; प्रियतमा। सबद—गुरु का उपदेश।

पद ५—आसिक—प्रेमी। गम—संतोष; सब्र।

पद ६—बिस (विष)—यह शरीर नख से शिख तक विष से भरा है।

पद ७—पानी—सर्वत्र व्याप्त परमात्मा की ओर संकेत। मीन—जीवात्मा की ओर संकेत। पियासी—परमात्मा का ज्ञान या दर्शन न होना। मृग की इ०—देखो साखी नं० २। जासी (राजस्थानी)—जावेगा।

पद ८—गगन—पद ३ में 'सुन्न' देखो। घटा—परमात्मा का प्रेम। निरबानी—त्याग का (या, निराकर)। दूब—घास। छोल—खुरचकर; छीलकर। धानी—धान। बानी—समूह। बाली—अनाज की बाल। किसानी—जीवात्मा की ओर संकेत। पाँच सखी—पंचेंद्रियाँ। रसोई—ईश्वर का स्मरण और भक्ति। जेवैं—भोजन करते हैं (आनंद उठाते हैं)।

पद ९—रस—ब्रह्मरंध्र में स्थित सहस्रदल कमल के मध्य में एक छिद्र है जिसके मध्य में एक चंद्राकार स्थान से सदैव अमृत प्रवाहित होता है; इसके नष्ट होने से वृद्धावस्था आती है। यहाँ यह पारिभाषिक अर्थ न लेकर प्रेम का अर्थ लिया जाय तो भाव-सौंदर्य

बढ़ जायगा। गगन—देखो सुन्न, पद ३। अजर—वृद्धावस्था का नाशक। झनकार—देखो अनहद नाद (पद २)। तब—जब चाहिए। कँवल—कमल; योग में नाड़ियों के चक्र; विशेष देखो पद १२। हंसा—(१) हंस पक्षी, (२) जीवात्मा। दसवें द्वारे—ब्रह्मरंध्र, देखो सुन्न (पद ३)। ताली लागी—बंद हो गया। जाको—उसका (अलख पुरुष परमात्मा का)।

पद १०—बाल्हा (वल्लभ)—हे प्यारे, परमात्मा की ओर संकेत। सब को—सब कोई। अँदेह—अँदेशा; संदेह; भय। एकमेक इ०—जब तक जीवात्मा अपने को परमात्मा में सर्वथा न मिला दे और अपना और परमात्मा का भेद-भाव न भूल जाय।

पद ११—भौंरा—जीवात्मा के प्रति संकेत। कँवल—सहस्रार कमल जिसमें ब्रह्म का निवास है। विशेष देखो कँवल, पद १२। भौंरी—बुद्धि की ओर संकेत। वह करत इ०—शुद्ध पाठ यह होना चाहिए—

हौं ज कहत तोसूँ बार बार।
मैं सब बन सोध्यौ डार डार॥

(मैं तुमसे बार-बार कहती हूँ, मैंने सारे वन को डाली डाली करके ढूँढ़ या देख लिया है)। पुहुप इ०—भोग करने की शक्ति नष्ट हो गई पर भोग-तृष्णा फिर भी बढ़ती रही, शांत न हुई। मुँह पराइ—मुँह फेरकर (शुद्ध पाठ महुपराइ = मधुपराज है)। ले चल—अर्थात् परमात्मा के पास। नाम—परमात्मा के नाम के स्मरण या जाप बिना।

पद १२—झीनी झीनी—अत्यंत सूक्ष्म और जटिल। चदरिया—शरीर की ओर संकेत। इँगला-पिँगला सुखमन—शरीर में बहुत सी नाड़ियाँ हैं जिनमें इडा, पिंगला और सुषुम्णा ये तीन मुख्य हैं; इडा शरीर में बाईं ओर पिंगला दाहिनी ओर होती है, बीच में सुषुम्णा होती है और वह मेरुदंड के साथ साथ चलती है। आठ कँवल—अष्ट कमल; कमल नाड़ीचक्र का नाम है; सुषुम्णा नाड़ी में ६ नाड़ी-चक्र हैं जो नीचे लिखे हैं—

१ मूलाधार-चक्र (चतुर्दल)—जहाँ मेरुदंड आरंभ होता है वहाँ है, सुषुम्णा का नीचे का मुख इसी में है। २ स्वाधिष्ठान-चक्र (षट्दल) —लिंग-मूल में। ३ मणिपूर-चक्र (दश-दल)—नाभि के समीप। ४ अनाहत-चक्र (द्वादश-दल)—हृदयस्थल में। ५ विशुद्ध-चक्र (षोडश दल)—कंठ में। ६ आज्ञा-चक्र (द्विदल)—त्रिकुटी अर्थात् भौंहों के मध्य-भाग में।

सातवाँ कमल सहस्रार-कमल है जो ब्रह्मांड में है, वहाँ सुषुम्णा समाप्त होती है, उसका छिद्र ब्रह्मरंध्र कहलाता है (देखो पद २ और ३)। आठवाँ कमल सुरति-कमल है।

दस चरखा—दश इंद्रियाँ। पाँच तत्त—पृथ्वी, अप् (पानी), तेज (अग्नि), वायु और आकाश—जिनसे स्थूल शरीर बनता है। गुन तीनी—सत्त्व, रजस् और तमस् ये तीन गुण, जिनके सामंजस्य से सृष्टि बनती है। साँई (स्वामी)—परमात्मा। मास दस—जीव दस महीने तक गर्भ में रहता है तब स्थूल शरीर बनता है। मैली कीनी—सांसारिकता और माया में लिप्त होकर। ज्यों की त्यों धरि दीनी—शरीर को माया से निर्लिप्त रखा।

विशेष अध्ययन के लिये देखिए—

(१) कबीर-ग्रंथावली, श्यामसुंदरदास द्वारा संपादित (नागरी-प्रचारिणी सभा, काशी)।

(२) कबीर-वचनावली, अयोध्यासिंह उपाध्याय द्वारा संपादित (नागरीप्रचारिणी सभा, काशी)।

(३) कबीर-साखी-संग्रह (बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग)।

(४) कबीर-शब्दावली (,, ,,)।

(५) कबीर का बीजक, पूर्णदास कृत टीका (वेंकटेश्वर प्रेस, बंबई)।

(६) कबीर का बीजक, विश्वनाथसिंहजू कृत टीका (नवल-किशोर प्रेस, लखनऊ)।

(७) कबीर का रहस्यवाद, रामकुमार वर्मा (गाँधी हिंदी-पुस्तक-भंडार, प्रयाग)।

(८) वन् हंड्रेड पोयम्स् आफ् कबीर, रवींद्रनाथ ठाकुर (मैकमिलन कंपनी, लिमिटेड)।

(९) कबीर एंड् दि कबीर-पंथ, रेवरेंड वेस्कट (क्राइस्ट चर्च मिशन प्रेस, कानपुर)।

(१०) मिस्टिसिज्म, इ० अंडरहिल (मैथ्यून, लंदन)।

(११) घेरंड संहिता, श्रीशचंद्र वसु द्वारा संपादित (पाणिनी आफिस, प्रयाग)।

२. सूरदास

विनय के पद

पद १—सलिता—सरिता। मैन—मदन।

पद २—चकई—जीवात्मा की ओर संकेत। चरन—भगवान् के चरण। सनक—ब्रह्मा के सर्वप्रथम चार पुत्रों में से एक। चारों के नाम ये हैं—सनक, सनंदन, सनातन, सनत्कुमार। नख—भगवान् के चरणों के। कमल—भगवान् के चरण-कमल की ओर संकेत। बिहंगम—जीव-रूपी पक्षी। इहाँ—संसार में। छीलर—छिछला गड्ढा। वा समुद्र—परमात्मा की ओर संकेत।

पद ३—काच-मंदिर में इ०—काच में अपना प्रतिबिंब देखकर उसे दूसरा श्वान समझता हुआ। हरि-सौरभ—कस्तूरी। केहरि इ०—हितोपदेश की प्रसिद्ध सिंह और शशक की कहानी। अरयो—भिड़ गया। मरकट इ०—बंदर की तरह; बंदर ने किसी तंग मुँहवाले घड़े में से अनाज निकालने के लिये उसमें हाथ डाला, सीधा हाथ तो भीतर चला गया; पर अनाज से भरी हुई बंद मुट्ठी बाहर न निकल सकी। किंतु बंदर ने अनाज को छोड़कर हाथ को निकाल लेना न चाहा और वह घड़े में ही फँसा रहा। नलिनी को सुवटा—जीव के प्रति संकेत। सुवटा—सुग्गा। कहि इ०—कह तुझे किसने जकड़ रखा है ?

पद ४—ग्राम-गटी—समूह। होति—अपनी रुचि जहाँ होती है। आरभटी—क्रोध आदि भावों की उग्र चेष्टा; शूर-वीरता का घमंड करना। लटी—दुःखित; शिथिल। जटी—जटित; मुक्त। हटी—हठी। मीचति नीच—अति नीच मृत्यु। पातर—जूठी पत्तल। चातक रटत ठटी—मैं चातक बना हुआ अड़कर पुकार रहा हूँ; मुझे करुणा-जल का दान दो।

पद ५—वह ताल—जो पहले जल-पूर्ण एवं हरियाली युक्त होने से शोभावाला था; शरीर के प्रति संकेत।

पद ६—क्रम—कर्म का अपभ्रष्ट रूप। उपाधि—जिसके संयोग से कोई वस्तु और की और अथवा किसी विशिष्ट रूप में दीख पड़े, जैसे आकाश एक अपरिमित और निराकार वस्तु है पर घड़े या कोठरी के भीतर वही परिमित और विशिष्ट आकार का जान पड़ता है। ब्रह्म जब माया की उपाधि से युक्त हो जाता है तो सोपाधि ब्रह्म या जीव हो जाता है, माया की उपाधि से रहित होने पर जीव निरुपाधि ब्रह्म हो जाता है। अनुदिन—प्रतिदिन।

बालकृष्ण

पद १—ररै—रटे; बोले।

पद २—अवगाहत—(छाया को) पकड़ने का प्रयत्न करते हैं। प्रतिमनि—हाथ-पग-रूपी प्रतिमाओं के लिये (या, आँगन में जटित प्रत्येक मणि में)।

पद ३—बल—बलराम।

पद ४—नंद—नंद को। चितै—देखते हैं; देखकर। लवनी—नवनीत का अपभ्रष्ट रूप।

पद ५—गुसैयाँ—मालिक; राजा। हमतेँ—हमसे बढ़कर। रूहठि (राजस्थानी में रुगट)—खेल में झूठ या कपट का व्यवहार। ग्वैयाँ—सखा।

पद ६—लावत पाप—दोष लगाते हैं।

पद ७—धिरयो—धमकाया; डाँटा। हरख—अपनी शिकायत पर अपने अपराधी को, विशेषतः यदि वह बड़ा हो तो, दंड पाते देखकर बालकों को स्वभावतः हर्ष होता है।

पद ९—खोरी—गली। पोरी—द्वार। भुरई—भुला ली।

पद ११—पारी—डाली; बनाई। तिल-चावरी—तिल और चावलों की खिचड़ी। फरिया—एक छोटा लहँगा या ओढ़ना। सविता—सूर्य। गोद पसारी—आँचल पसारकर भीख माँगी।

पद १२—सबरे—मिले; शामिल हुए। लँगरैयाँ—ढिठाई; शरारत।

पद १३—अचगरी—नटखटपन।

पद १४—पढ़ावति—सिखाती है। बानी—बान; आदत। हरे हरे—धीरे धीरे; चुपचाप। पाटी लाई—खाट की लकड़ी से। सेँत की—मुफ्त में।

पद १५—मोसों इ०—कृष्ण का गोपियों के प्रति कथन। उपखान—लोकोक्ति। सब—अर्थात् गोपियाँ। कह्यो इ०—कृष्ण का कथन।

पद १६—गलबल—खलबली; या व्याकुलता-पूर्ण कोलाहल। चहल—चहलपहल; कोलाहल।

पद १७ (अ)—बितताने—व्याकुल। पराने—भागते हुए।

पद १७ (ब)—मेघवर्त्त—प्रलयकाल के सात बादलों में से एक; सातों के नाम ये हैं—मेघवर्त्तक, जलवर्त्तक, वारिवर्त्तक, पुष्करावर्त्तक, वज्रवर्त्तक, पवनवर्त्तक और अग्निवर्त्तक। पवनवर्त्तक—यह मेघ जब

बरसता है तब अंधड़ भी उठता है और चारों ओर से हवा जोरों के साथ चलती है। इंद—इंद्र।

पद १८—भार—समूह। धुंधार—धुँए से उत्पन्न अंधकार। झंझार—अग्नि की लपट जिससे अव्यक्त शब्द के साथ धुँआ और चिनगारियाँ निकलें। नाइ—डाल लिया; पी गए।

यशोदा-विलाप

पद १—लाधो—मिला, लब्ध हुआ। साधो—इच्छा, लालसा। दैहै—जला देगा।

पद २—बजर—वज्र। अह्यौ—अहि; साँप। हुतौ जनम निबह्यौ—जन्म कृतार्थ हो जाता।

पद ४—मया—ममता; प्रेम; दया। करम करम करि—क्रम क्रम से; धीरे धीरे; एक एक करके।

पद ५—कनियाँ—गोद में। सचु—सुख। चैहौं—देखूँगी।

पद ६—बिखान—विषाण। सीँगी—सींग के बने हुए बाजे। धैया—ताजे दूध के ऊपर का मक्खन; मक्खनवाला ताजा दूध।

गोपी-विरह

पद १—परतीति—भरोसा। बिहंगम—नेत्रों को खंजन पक्षियों की उपमा दी जाती है, पर मालूम हो गया कि यह झूठ है क्योंकि यदि पक्षी होते तो उड़कर साथ चले जाते। स्याम-मई—नेत्रों की श्यामता की प्रशंसा की जाती है, पर यह झूठ है क्योंकि ये श्याम-मय नहीं हुए। मेचक—श्याम। मीन—नेत्रों को मछली की उपमा दी जाती है, पर ये व्यर्थ ही मछली से बढ़कर सुंदर हुए, मछली की तरह प्रिय के

बिछुड़ने पर यदि प्राण दे देते तो इनकी यह सुंदरता कुछ मूल्य रखती। जड़--निःस्पंद। पलकनि इ०--पलकों ने पड़कर इन्हें एक-टक न देखने दिया।

पद ४—तारे—आँखों के। बदन-सदन इ०—वर्षा में जैसे पक्षी घोंसलों से बाहर नहीं निकलते उसी भाँति वचन मुँह से बाहर नहीं निकलते हैं। निनारे--अलग। सिव की पर्नकुटी--कुचों को शिव की उपमा दी जाती है।

पद ५—निरुवारौं--छुटकारा पाऊँ; रोकूँ; सँभालूँ। झँई--जई; फलों की बतिया; कच्चा फल।

पद ६--बरु--भला। पराए--दूसरे के, इंद्र के।

पद ७—गुन—लिये, कारण।

पद १०--नयनन तें इ०--सूर्य्य भगवान् के नेत्रों से उत्पन्न हुआ माना गया है; यथा चक्षोः सूर्यो अजायत (ऋग्वेद, पुरुष-सूक्त)।

भ्रमर-गीत

भ्रमर-गीत—विरहाकुल गोपियों को प्रबोध देने के लिये श्रीकृष्ण ने अपने सखा उद्धव को भेजा। उद्धव ने उन्हें योग की उपासना और निर्गुण निराकार परमात्मा का ध्यान करने का उपदेश दिया पर कृष्ण के अटूट प्रेम-प्रवाह में निमग्न गोपियों को वह रुचा नहीं। वे उद्धव की हँसी उड़ाने और उपालंभ देने लगीं। इतने में ही एक भ्रमर कहीं से उड़ता हुआ उनके पास आ पहुँचा और गुन गुन करने लगा। गोपियों ने समझा कि यह भी कृष्ण का भेजा हुआ उद्धव की तरह ही हमें उपदेश दे रहा है। फिर क्या था, लगीं वे उसे फटकारने।

इस प्रकार भ्रमर के प्रति संबोधित कथन भ्रमर-गीत कहलाता है। भ्रमर के प्रति कही बातों को उद्धव के प्रति कही हुई ही समझना चाहिए। कहीं कहीं एकाध स्थान पर भ्रमर के बहाने कृष्ण को भी फटकार सुनाई गई है।

पद १—जोग—योगोपदेश। ठगौरी—ठगविद्या; ठगाई। केना—बदला; विनिमय में। मुगताहल—मुक्ताफल, मोती।

पद २—झूँखीँ—व्याकुल हुई। पतूखी—पत्तों का दोना। सकति—बल-पूर्वक; जबर्दस्ती। चलावौ—चला रहे हो।

पद ३—सूधो—सीधा; सरल (प्रेम का मार्ग)। कुबजा—कुब्जा; यह कुबड़ी थी और कंस की दासी थी, कृष्ण ने इसका कूबड़ दूर कर दिया था। वैष्णव कवियों ने लिखा है कि कृष्ण ने उसे अपनी सेवा में रख लिया था इसी से गोपियाँ उसे सपत्नी समझती हैं। परेखो—परीक्षा; विश्वास। जानत इ०—जो इतना भोला है (व्यंग)। मूर—मूलधन (कृष्ण-रूपी)। अकरूर—अक्रूर जो कृष्ण के चाचा होते थे और कृष्ण को कंस के दरबार में ले गए थे। निबेरत—वसूल करते हैं।

पद ४—गाँसी—कपट-पूर्ण बात; झूठ।

पद ५—अछत—विद्यमान होते हुए।

पद ६—सर—सरकंडे जिनकी कलम बनाई जाती है। दौ—दवाग्नि। अरे—बंद हैं।

पद ७—मुसुकाने—भाव यह कि कृष्ण ने तुम्हारे साथ हँसी की है; वास्तव में वे तुम्हें यहाँ नहीं भेजना चाहते थे पर तुम इतने मूर्ख हो कि उस हँसी को न समझे।

पद ८—ससि देखे—रास-क्रीड़ा शरत्पूर्णिमा की चाँदनी में की गई थी।

पद ९—सिराति—ठंडी होती हैं। बाय—वात; बादी; त्रिदोषों में से एक जिनके कुपित होने से शरीर में रोग होते हैं।

पद १०—बायस—जब किसी की प्रतीक्षा होती है तो कौवे को उड़ाया जाता है। कृष्ण की प्रतीक्षा में व्रजवासी कौवे को देखते ही उड़ा देते हैं, इससे कोई कौवा वहाँ नहीं रहने पाता जो बलि को खाय।

विशेष अध्ययन के लिये देखिए—

१ सूर-पंचरत्न, लाला भगवानदीन द्वारा संपादित (रामनारायण लाल, प्रयाग)।

२ भ्रमर-गीत-सार, रामचंद्र शुक्ल द्वारा संपादित (साहित्य-सेवा-सदन, काशी)।

३ सूर-सुधा, मिश्रबंधु द्वारा संपादित (नागरी-प्रचारिणी सभा, काशी)।

४ संक्षिप्त सूरसागर, वेणीप्रसाद द्वारा संपादित (इंडियन प्रेस, लिमिटेड, प्रयाग)।

५ संक्षिप्त सूरसागर, वियोगी-हरि द्वारा संपादित (हिंदी-साहित्य-सम्मेलन, प्रयाग)।

६ सूर-सागर, राधाकृष्णदास द्वारा संपादित (वेंकटेश्वर प्रेस, बंबई)।

७ सूर-सागर (नागरी-प्रचारिणी सभा द्वारा खंडशः प्रकाशित)।

३. मलिक मुहम्मद जायसी

नागमती-वियोग

यह अंश पदमावत से लिया गया है। चितउर के राजा रतनसेन

के सामने। संघलद्वीप के एक सुए ने सिंघल की राजकुमारी पद्मावती की प्रशंसा की, जिससे राजा की इच्छा उसे प्राप्त करने की हुई और वह अपने कुछ सरदारों को लेकर सिंघलद्वीप को चला गया। पीछे उसकी विरह-व्याकुल रानी नागमती उसके लिये विलाप करती है।

दो० १—नागर—नायक; प्रियतम। बरु—किंतु; या भले ही (प्राण भले ही चले जाते पर प्रियतम न जाते)। बावँन-करा—वामन-रूप। करन—कर्ण। छंदू—छल। झिलमिल—कवच। इंदू—इंद्र। गोपिचँद (गोपीचंद)—गौड़ या बंगाल का एक प्राचीन राजा जो भर्तृहरि का भांजा कहा जाता है। वह माता के उपदेश से राजपाट छोड़कर वैरागी हो गया। जलंधरनाथ उसका गुरु था। अपसवा—चला गया। अलोपी—अदृश्य।

दो० २—रामा—स्त्री। हरि हरि—धीरे धीरे। चोला—शरीर। पहर एक इ०—इतनी शून्यमनस्क है कि कोई बात कही जाती है तो समझने में पहर भर लगा देती है। भाखा—बोली। लागि—कारण। हंस—(१) जीव, (२) हंस पक्षी।

दो० ३—कँवल—(१) कमल, (२) पद्मावती। मेरावा—मिलाप। सँवरि—याद करके। थीती—स्थिरता; मन को स्थिर करो। अस—ऐसा अर्थात् व्याकुल। बारी—बाला। अंकम—अंक में। मृग-सिरा—जब सूर्य मृगशीर्ष नक्षत्र में रहता है। अद्रा—आर्द्रा नक्षत्र।

दो० ४—धूम—धूम्र-रंग के। साम—श्याम। धौरे—श्वेत। ओनई—उमड़ी। लागि इ०—पृथ्वी पर पानी भर गया। गारौ—गौरव। बाहिरै—बिना।

दो० ५—भरनि—खेतों में बीज बोने की क्रिया। झुरानी—जल गई। सरेखा—चतुर; सुंदर। भँभीरी—एक बरसाती पतिंगा। ताकी—देखा। ढाँख—ढाक।

दो० ६—भरौं—बिताऊँ; पूरी करूँ। अनतै—अन्यत्र। पाटी—खाट की। पसारि—फैलाकर; फाड़कर (देखने के लिये)। तरासा—त्रास दिखाता है। गरासा—ग्रास किया। मघा—एक नक्षत्र। ओारी—ओलती। पुरबा (पूर्वा-भाद्रपद)—एक नक्षत्र का नाम। झूरी—सूखा। अपूर—भरपूर। धनि—धन्या; प्रियतमा। अवगाह—प्रवाह में डूब रही है।

दो० ७—लटा—शिथिल हुआ। पलुहै—पल्लवित हो। कया—काया। मया—दया। चित्रा इ०—मीन राशि का सूर्य चित्रा नक्षत्र पर आ गया। उआ—उदय हुआ। अगस्त—अगस्त्य तारा। तुरय—तुरग। पलानि—जीन कसकर। कुरलहिँ—करुण स्वर से बोलते हैं। घाय—घाव। बाजहु—भिड़ो। सदूर—शार्दूल।

दो० ८—करा—कला। अगि-दाहू—अग्निदाह। दिवारी—दिवाली। झूमक—स्त्रियों का गीत-विशेष। मोरी—मोड़कर। पूजा—पूरा हुआ। सवति-दुख—रतनसेन पदमावती को विवाह करके लाने के लिये गया था।

दो० ९—दूभर—कठिनता से बीतनेवाली। सीऊ—सीत। गा—गया। भसमंतू—भस्म। तेहि क इ०—उसी का धुँवाँ लगने से हम काले हो गए हैं।

दो० १०—लंका-दिसि—दक्षिण। चाँपा—दबा जाता है। ओाहि—उसके। सैंर—याद करके। हिवंचल—हिमालय। कोकिला—

जलकर कोकिल की भाँति काली बनी हुई। पखी—पत्ती; जीव। ररि—रटकर; पुकारती हुई।

दो० ११—जड़काला—जाड़े की ऋतु। पहल—ढेर। झाँपै—ढकती है। महवट—माघ की झड़ी। चीरू—घाव। मारै झोला—झकोरा मारता है। पटोरा—रेशमी वस्त्र। गीउ—गर्दन। डोरा—डोरे के समान क्षीण। तिनउर—तिनकों का समूह। झोल—राख।

दो० १२—ओनंत—झुकी हुई; अवनत। दून—दूना। चाँचरि—चर्चरी; होली का नाच व गान। मकु—शायद।

दो० १३—धमारी—धमार राग। पंचम—कोयल का शब्द। सगरैं—सब का सब। नारँग—नारंगी। घिरिनि—गिरहबाज; ऊपर मँडरानेवाला। परेवा—कबूतर। परु टूटि—झपट पड़।

दो० १४—हिवंचल इ०—हिमालय की ओर, उत्तरायण, आया। बजागि—वज्राग्नि। सौंह—सामने। भारू—भाड़। बारू—बालू (भूँजने की)। बिहराई—फट जाता है। टेका—सहारा। दोठि दवँगरा—दृष्टिरूपी वर्षा की आरंभिक झड़ी से। मेरवहु—मिला दो। एका—एक में।

दो० १५—लुवारा—लुएँ। पलंका—लंका-पलंका कहा जाता है; परलंका; लंका से बहुत दूर। मंदी—धीरे धीरे जलनेवाली। मुहमद—कवि का नाम।

दो० १६—छाजनि—छप्पर; छान। गाढ़ी – कठिन; बुरी अवस्था में। दुख—दुःख से। आगरि—छाजन का एक भेद। बंध—छाजन का बंधन। कंध—(१) छाजन का सहारा, (२) रक्षक। साँठि—सहारा;

जो छाजन को पकड़े रहे। नाठि—नष्ट हो गई। बिनु जिउ इ०—बिना जीव के यह शरीर बिना बंधन की मूँज के ऐसा हो गया है। दुहेली—दुखी। टेक—सहारा; छप्पर में सहारे का खंभा या लकड़ी। बिहूनी—रहित। थाँभ—छप्पर का सहारा। थूनी—लकड़ी की टेक। छपर छपर—तराबोर। कोरौं—छाजन की ठाट में लगे बाँस या लकड़ी। नव कै—नए सिरे से।

दो० १७—बरख—वर्ष। परि—भाँति। पहर इ०—एक एक पहर एक एक युग के समान हो रहा है, और बीतता नहीं। सेराई—समाप्त होता है। दहि—जलकर। जारा—जलाया। हारि परी—थक गई। झंखि—झींखकर। बूझै—पूछने के लिये निकली।

दो० १८—पुछार—(१) पूछनेवाली, (२) मोर। चिलवाँसू—फंदा। खर—प्रखर; तेज। उड़हि तौ, कागा—जब किसी की प्रतीक्षा होती है तब कौवा उड़ाया जाता है। हारिल—(१) थकी हुई, (२) एक पक्षी। सेवा—(१) देखा, (२) चली। परेवा—पक्षी। धौरी पंडुक—(१) सफेद और पीली, (२) दो पक्षी-विशेष। चित रोख—(१) चित्त में रोष, (२) एक पक्षी। बया, लवा—दो पक्षी। मेराव—मिलाप। गौरवा—(१) गौरव-युक्त, (२) एक पक्षी। कोइल—(१) जलकर काली, (२) कोकिला। महरि—(१) गोपी की तरह, (२) गोपी। दही—(१) जलाई, (२) दधि। पेड़—पेड़ पर। तिलोरी—एक पक्षी। जल—जल में। कटनंसा—(१) काटकर नष्ट किया, (२) नीलकंठ पक्षी। निअर—निकट। निपात—जलकर गिर जाता है।

दो० १६—सेराव—ठंढी करे। ताती—तप्त। परास—फराँस नामक पत्रविहीन पेड़। निपाते—पत्र-रहित। बिंब—एक पेड़। परवर—परवल। गोहूँ—गेहूँ। रतन—(१) प्रियतम, (२) राजा रतनसेन। ओहि देसरा—उस देश में, जहाँ प्रियतम हैं।

दो० २०—किँगरी—एक प्रकार की छोटी सारंगी। ताँति—सारंगी की ताँतें। रोवँ—रोम।

विशेष अध्ययन के लिये देखिए—

(१) जायसी ग्रंथावली, रामचंद्र शुक्ल द्वारा संपादित (नागरी-प्रचारिणी सभा, काशी)।

(२) संक्षिप्त पदमावत, श्यामसुंदरदास और सत्यजीवन वर्मा द्वारा संपादित (इंडियन प्रेस, लिमिटेड, प्रयाग)।

४ तुलसीदास

मानस-रूपक

यह अंश रामचरित-मानस से लिया गया है। इसमें रामचरित-मानस का मानस-सरोवर के साथ रूपक बाँधा गया है।

पेम—प्रेम। सालि—धान। मेधा महिगत—बुद्धि-रूपी पृथ्वी पर पड़ा हुआ। सकिलि—सिमटकर। थिराना—स्थिर हो गया। चिराना—पुराना, नया जल पृथ्वी पर पड़ने से मलिन हो जाता है, धीरे धीरे पुराना होकर मल-रहित हो जाता है। सीत रुचि—शीतल। संबाद—रामचरित-मानस की कथा चार वक्ताओं ने चार श्रोताओं से कही है जो इस प्रकार हैं—शिव-पार्वती, याज्ञवल्क्य-भरद्वाज, काक भुशुंडि-गरुड़ और तुलसीदास तथा उनका मन।

सप्त प्रबंध—सात कांड। अगुन—निर्गुण। पुरइनि—कमल की बेलि। धुनि—ध्वनि; व्यंग्यार्थ। अवरेब—वक्रोक्ति (वक्रोक्तिः काव्य-जीवितम्—कुंतल!) । कबित गुन—कविता के तीन गुण—माधुर्य, ओज, प्रसाद। जाती—स्वभावोक्ति। अरथ इ०—धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष ये चार पदार्थ। अँबराई—आम के पेड़ों का कुंज। जम—(१) यम, ब्रह्मचर्य, दया, क्षमा, दान, सत्य, अकल्कता (ईमानदारी), अहिंसा, अस्तेय, माधुर्य (याज्ञवल्क्यस्मृति), (२) आनृशंस्य, दया, सत्य, अहिंसा, क्षमा, आर्जव, प्रीति, प्रसाद, माधुर्य, मार्दव, (३) अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य, अकल्कता, अस्तेय (मनुस्मृति)। नियम—(१) शौच, इज्या, तप, दान, स्वाध्याय, उपस्थनिग्रह, व्रत, मौन, उपवास, स्नान (अत्रिस्मृति), (२) शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वर-प्रणिधान, (३) याज्ञवल्क्यस्मृति में तप, दान और व्रत के स्थान पर गुरु-सेवा, अक्रोध और अप्रमाद है, (४) जैन १२ नियम मानते हैं। पुलक...सुख—कथा के कथन-श्रवण से उत्पन्न पुलकावलि और सुख। सुमन—श्रेष्ठ मन।

सुर बर—मानस में स्नान करनेवाले देवता। संबुक—घोंघा। बलाक—बगुले। तिन्हके—दुष्टों के। संबल—मार्ग में खाने-पीने की सामग्री; पाथेय।

जुड़ाई—जूड़ी; शीतज्वर। जाड़—जाड़ा। त्रयताप—आध्यात्मिक (शारीरिक और मानसिक कष्ट), आधिदैविक (देवताओं द्वारा प्राप्त यथा अवृष्टि, अतिवृष्टि) और आधिभौतिक (जीवों द्वारा होनेवाला यथा टिड्डीदल का कृषि-नाश कर देना)। काऊ—कभी। भाऊ—

भाव; प्रेम। अस इ०—ऐसे मानसरोवर को मन की आँखों देखकर। अवगाही—स्नान करके। राग—राम पाठ होना चाहिए। अवध—अयोध्या; जो सरजू के किनारे स्थित है।

सुर सरितहि—गंगा से। सोन—सोन नदी। देव-धुनि—गंगा। तिमुहानी—तीन मुखवाली। समुहानी—सामने (तरफ) चली।

पटु—चतुर। अनुकथन—वार्त्तालाप। सरि—नदी। भृगुनाथ—परशुराम। परम जोग—परब-जोग चाहिए, पर्व या पवित्र दिन के अवसर पर। जासु फल—जिसके परिणाम-स्वरूप। पाथा—जल। भायप—भ्रातृत्व।

लघुता—जल में हलकापन है; दोष नहीं। तोषक इ०—सच्चे संतोष से संतुष्ट करनेवाला। मानस—मन को। बिगोए—बिगाड़े हुए। रबिकर भव बारी—मृगतृष्णा। गनि—समझकर।

विशेष अध्ययन के लिये देखिए—

(१) रामचरित-मानस, मानस-पीयूष टीका, जनकसुताशरण शीतलासहाय कृत (अयोध्या)।

(२) रामचरित-मानस, विनायकी टीका, विनायक राव कृत (जबलपुर)।

(३) रामचरित-मानस, श्यामसुंदरदास कृत टीका (इंडियन प्रेस, लिमिटेड, प्रयाग)।

(४) रामायण आफ् तुलसीदास, ग्राउस कृत अँगरेजी अनुवाद (रामनारायण लाल, प्रयाग)।

बरवै

ये बरवै बरवै-रामायण से लिए गए हैं—

१—सम सुबरन—एक से अच्छे रंग के। व्यतिरेक अलंकार।

३—केस मुकुत—बालों में गुँथे मोती। मरकत—श्याम रंग की मणि। पूर्वरूप अलंकार।

४—चंपक इ०—चंपे का हार पहनने पर शरीर की कांति में ऐसा मिल जाता है कि मालूम नहीं पड़ता। उन्मीलित अलंकार।

५—कमठ-पीठ इ०—हे सखी धनुष कछुए की पीठ की तरह कठोर है इसलिये भय होता है कि ये कोमल बालक कैसे तोड़ेंगे। वाचकलुप्तोपमा अलंकार।

६—हरास—व्याकुलता; उदासी।

७—मिस करि—सीता और राम को एकांत में छोड़ने के लिये।

८—साँच—सचमुच। निगानाँग—बिल्कुल नंगा (महादेव बना देगी); मिलाओ—लैहै छीन अंबर, दिगंबर कै जोरावरी, बैल पै चढ़ाइ सु तौ सैल पै चढ़ावैगी (पद्माकर कृत गंगा-लहरी)। व्याजस्तुति अलंकार।

९—पाइ—सीता के पैर। व्यतिरेक अलंकार।

१०—हिय हारि—निराश होकर। किहेसि—किया। हरवा—हार। बिदारि इ०—सीता के सौंदर्य के सामने अपने सौंदर्य को तुच्छ देखकर इतना आघात पहुँचा कि केवड़े का हृदय फट गया। हेतूत्प्रेक्षा।

११—बैरिनि—क्योंकि मरने नहीं देतीं जिससे विरह-वेदना सहनी पड़ती है।

१२—डहकु—धोखा खा; भ्रम में पड़। उजियरिया—चाँदनी का उजाला। भ्रांतापह्नुति।

१३—कनगुरिया—छोटी अँगुली। अल्प अलंकार।

१४—कुलगुरु—सूर्य। भ्रांतिमान् अलंकार।

१५—पय—पयस्विनी नदी। सुर-तरु-बास—जहाँ सब इच्छाएँ पूर्ण हो जाती हैं। निदर्शना अलंकार।

१८—तुलसी—(१) तुलसी घास, (२) कवि तुलसी।

विशेष अध्ययन के लिये देखिए—

(१) तुलसी-पंचरत्न, बरवै-रामायण, लाला भगवानदीन-संपादित (नंदकिशोर ब्रदर्स, बनारस)।

(२) तुलसी इंटरमीडियेट कोर्स, बरवै-रामायण, हरिहरनाथ टंडन-संपादित (युनिवर्सिटी बुक डिपो, आगरा)।

राम-वनवास

१—कीर—पंख। कीर के इ०—श्रीराम ने राजसी वस्त्र और गहनों को त्यागकर अंगों में ऐसी उपमा पाई जैसे सुग्गा पुराने परों को त्यागकर पाता है, जैसे सुग्गे को पर त्यागते दुःख नहीं होता वैसे ही उन्हें भी नहीं हुआ (अन्वय इस प्रकार होगा—कीर के कागर ज्यों भूखन-चीर बिभूखन तजि अंगनि उप्पम पाई)। बटाऊ—यात्री; जिसे मार्ग में ठहरने के स्थान को त्यागते हुए कुछ भी दुःख नहीं होता।

२—औध—अवध; अयोध्या।

३—तटिनी—नदी (गंगा)। स्वै—वही।

४—तरै—अहल्या की कथा की ओर संकेत। बरु—भले ही; चाहे।

५—बन-बाहन—नाव। खाइ रहा है—जल में भीगने से और भी कोमल हो गया है। हहा—ठठाकर।

६—पात भरी इ०—पत्तल भर मछली मारकर निर्वाह करता हूँ। सहरी—शफरी। याही लागि—इसी के भरोसे।

७—असयानी—भोली-भाली। तन—ओर।

८—कनी—कणिका; बूँद।

९—डाढ़े—जले हुए।

११—मैन—मदन। बैनी—बदनी।

१३—तुम त्यौं—तुम्हारी ओर।

१६—सत भायहु तें—सच्चे भाव से।

१७—चकैं—चकित होते हैं। जिय जानि इ०—राम को शिकारी न समझकर काम समझते हैं और भागते नहीं।

विशेष अध्ययन के लिये देखिए—

(१) कवितावली, लाला भगवानदीन और विश्वनाथप्रसाद मिश्र द्वारा संपादित (साहित्य-सेवक कार्यालय, काशी)।

(२) कवितावली, वामदेव कृत टीका (रामनारायणलाल, प्रयाग)।

गीतावली के पद

२—सचु पावौंगी—सुख पाऊँगी।

३—रवन—रमण; पति। दवन—दमन करनेवाला।

५—सिखी—अग्नि।

६—अरुझि—भ्रांति; संभ्रम।

८—गहबर—व्याकुल; भरा हुआ।

१२—हौं—मुझे। सँघाती—साथी। प्रचारे—उत्तेजित किया; ऋषियों के शाप के कारण हनुमान् अपनी शक्ति भूल जाते थे और वह याद दिलाने पर याद आती थी।

१३—धौरहर—ऊँची इमारत। निज बासरनि इ०—विधाता अपने दिन के बराबर बड़े दिन करके मेरे वर्ष को पूरा करेगा, मेरा वर्ष अपने वर्ष के बराबर लंबा बना देगा; दुःख में दिन बहुत लंबे मालूम होते हैं, ब्रह्मा का एक दिन मनुष्यों के ४ अरब ३२ करोड़ वर्षों के बराबर होता है। क्वै—कितने। स्वैहैं—सोवेंगे।

१४—गँस—गाँठ; द्वेष।

विशेष अध्ययन के लिये देखिए—

(१) गीतावली, रामावतार शर्मा-संपादित (सरस्वती-मंदिर, पटना) ।

(२) गीतावली—रत्नाश्रम, आगरा द्वारा प्रकाशित।

(३) गीतावली, वामदेव कृत टीका (रामनारायणलाल, प्रयाग)।

बालकृष्ण

ये पद कृष्ण-गीतावली से लिए गए हैं।

१—भट्टू—अरी। बोलि—बुलाकर। डहकि—ठगाकर (देने को दिखाकर फिर नहीं देते इस प्रकार)। बिरावत—चिढ़ाते हैं। तनिया—चोला। टेपारो—टोपी। सिहात—प्रशंसा या ईर्ष्या करते हैं।

२—नाकहि आई—प्राण नाक में आ गए। छीजै—दुःख पावे।

३—देखुवार—वर को देखनेवाले। बबै—बाबा ने। चोरी—चोरी की आदत। कह्यो करि—कहने के अनुसार कार्य करके।

बोलि दै—पुकारकर। यों—ऐसा। उठि—थोड़ी ही देर में उठकर।

४—नाहरु—सिंह; सिंह जैसा पराक्रमी पुत्र। कुधर—पहाड़। अपने सों करि—अपनी शक्ति भर करके।

५—सुरतरु—कदंब। तर—नीचे। बन-धातु—वनमाला। त्रिभँग—वंशी बजाते हुए श्रीकृष्ण के खड़े होने की एक मुद्रा जो तीन जगह टेढ़ी होती है। ठट—समूह। रीते-भरे—जिनके खाली थे वे खाली और जिनके भरे थे वे भरे, घड़े लिए ज्यों की त्यों खड़ी रह गईं, अपनी सुधि सर्वथा भूल गईं।

विशेष अध्ययन के लिये देखिए—

(१) कृष्ण-गीतावली, नरोत्तमदास स्वामी द्वारा संपादित (गया-प्रसाद एंड सन्स, आगरा)।

(२) कृष्ण-गीतावली, रामचंद्र जैन संपादित (इंडियन प्रेस, लिमिटेड, प्रयाग)।

(३) कृष्ण-गीतावली, रामचंद्र चतुर्वेदी-संपादित (दमदमजी कंपनी, आगरा)।

विनय के पद

२—खेहर खाउ—धूल खानेवाला। काउ—कभी। जोगवत—चौकसी करना; ध्यान रखना; बचाना। अनट—अनिष्ट। अपाउ—अपाय। सिला—अहल्या की ओर संकेत। खाइ गए ताउ—ताव खा गए; क्रुद्ध हो गए। छमाइ—क्षमा माँगकर। अनत—दूसरे में। समाउ—सहनशीलता। कनौड़े—कृतज्ञ। धनिक—ऋणदाता। छल-

छाउ—छल-छंद। भरत-सभा—'भरत सभा' पाठ होना चाहिए, भरत को सभा में। अघाउ—संतोष; तृप्ति। निज इ०—भक्तों पर की हुई अपनी करुणा और उपकार की चर्चा चलते ही संकोच में गड़ जाते हैं। सकृत प्रनाम—एक बार प्रणाम करने से। प्रनत-बस—प्रनत-जस पाठ होना चाहिए। अनयास—अनायास। पसाउ (प्रसाद)—अनुग्रह।

२—सम—सदा एक सा।

३—जानि इ०—बादल समझकर आशा करता है।

४—गच—भीत में जड़ा हुआ। सेन (श्येन)—बाज। टूटत—झपटता है। छति—क्षति; हानि। पन (प्रण)—शरणागत की रक्षा करने का।

५—रहिए—चुप रहिए। भीति—चित्र-पट। चितेरे—चित्रकार ने। मरे इ०—शुद्ध पाठ यह होना चाहिए—मरे भीति, दुख पाइय इ०—इन चित्रों को मरने का डर सदा लगा रहता है और इनकी ओर देखने से दुःख होता है। रबि-कर-नीर—मृग-तृष्णा (माया का जाल)। मकर—मगर (काल)। पान करन—विषय-तृष्णाओं में जो पड़ते हैं। सत्य—संसार को सच कहते हैं। जुगल—सच और झूठ दोनों कहते हैं। तीनि भ्रम—संसार को सत्य, असत्य या सत्यासत्य मानना।

६—दिन-दानि—दीनों को देनेवाले। कहि आवत—कहना पड़ता है।

७—नसानी—आयु बिगड़ी। भव-निसा—सांसारिक प्रवृत्ति या अज्ञान की रात्रि। हँसैहौं—हँसी करवाऊँगा।

विशेष अध्ययन के लिये देखिए—

(१) विनय-पत्रिका, वियोगी-हरि कृत टीका (साहित्य-सेवा-सदन, काशी)।

(२) विनय-पत्रिका, रामेश्वर भट्ट कृत टीका (इंडियन प्रेस, लिमिटेड, प्रयाग)।

(३) विनय-पत्रिका, महावीरप्रसाद कृत टीका (बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग)।

(४) विनय-पत्रिका (गीता प्रेस, गोरखपुर द्वारा प्रकाशित)।

तुलसीदास के विशेष अध्ययन के लिये ये अतिरिक्त ग्रंथ देखिए—

(१) गोस्वामी तुलसीदास, रामचंद्र शुक्ल (नागरी-प्रचारिणी सभा, काशी)।

(२) गोस्वामी तुलसीदास, श्यामसुंदरदास और पीतांबरदत्त बड़थ्वाल (हिंदुस्तानी एकेडेमी, प्रयाग)।

(३) तुलसी-ग्रंथावली खंड १, २, ३ (नागरी-प्रचारिणी सभा, काशी)।

(४) तुलसी ग्रंथावली (बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग)।

(५) दोहावली, लाला भगवानदीन-संपादित (साहित्य-भूषण कार्यालय, काशी)।

(६) मानस-हंस, यादवशंकर जामदार।

(७) रामचरितमानस की भूमिका, रामदास गौड़ (हिंदी पुस्तक एजेंसी, कलकत्ता)।

(८) सुंदर-कांड, नरोत्तमदास स्वामी और पुरुषोत्तमदास स्वामी द्वारा संपादित (इंडियन प्रेस, लिमिटेड, प्रयाग)।

(९) हिंदी-साहित्य का इतिहास, सूर्यकांत शास्त्री (लक्ष्मणदास मेहरचंद, लाहोर)।

(१०) कल्याण, रामायणांक, श्रावण सं० १९८७ (कल्याण-कार्यालय, गोरखपुर)।

(११) वाल्मीकीय रामायण, हिंदी-अनुवाद (इंडियन प्रेस, लिमिटेड, प्रयाग)।

(१२) अध्यात्म-रामायण (मूल—निर्णयसागर प्रेस बंबई, हिंदी टीका—वेंकटेश्वर प्रेस, बंबई)।

५. मीराँबाई

पद

पद १—मानुसा अवतार—जिससे मनुष्य-जन्म मिला। बार—देरी। जोर—प्रबल। अनँत ऊँडी—अनंत गहरी। बेड़ा—नाव। परले—उस ओर के। चोसर—चौपर नाम का खेल। मँडी—बनी; बिछी। चोहटे—बाजार में। सुरत (स्मृति)—ईश्वर का स्मरण या ध्यान। पासा-सार—चौसर खेलने के पासे और गोटियाँ। भावैं—चाहे। जीवणा—जीना; जीवन। च्यार—चार।

पद २—छोना—पुत्र। लै लेहु इ०—दधि ले लो की जगह इस तरह पुकारने लगी। आँखि लगाइ—प्रेम लगाकर। रस-लोना—रस और लावण्य-युक्त; रसिक और सुंदर।

पद ३—दूखण लागे—दुखने लगे (प्रतीक्षा करते हुए)। प्रभु मोरे—प्रियतम परमात्मा के प्रति जीवात्मा की उक्ति। मीठे इ०—प्रियतम के बोल। छमासी—छः महीनों जितनी लंबी। करवत—आरा। ऐन—बिलकुल; ठीक।

पद ४—चढ़े चढ़ि—चढ़ चढ़कर। महाराज—प्रियतम। दामिणि इ०—बिजली लाज छोड़कर चारों ओर स्वतंत्रता से चमक रही है। नवा नवा—नए नए। इंद्र—जो पृथ्वी का प्रियतम है।

पद ५—ऊमटी—उमड़ी। भोम—भूमि।

पद ६—जोगिया जी—योगी-रूप प्रियतम। खोर करूँ—भस्म डालकर सफेद करूँ। च्यारूँ—चारों। देस—अर्थात् दिशाएँ। जीवनि इ०—जीवन में जन्म भर अँदेशा रहा (या अनेक जन्मों तक जीऊँ)।

पद ७—उड जावन की—उड़ जाने की; उड़ने के लिये। दावन—दामन।

पद ८—सनेसो—संदेश। गुझबाती—चुप रहते हैं। डगर—मार्ग (प्रियतम के आने का)। राती—लाल।

पद ११—दरध-दिवाणी—दर्द से दीवानी। जाणै—जानता है। वलभ—प्यार करनेवाला। बैद—वैद्य। रमइयो—रमैया; राम; परमात्मा।

पद १२—चारौं—सब। झीणा—झीना; सूक्ष्म। सुरत—ध्यान। झकोला खाइ—झोंका खाता है; स्थिर नहीं रहता। जुगन—युगों। लीन्हा—पा लिया।

पद १३—राम खुमारी—परमात्मा के प्रेम का नशा। सुन्नि-मँडल—शून्य मंडल; देखो कबीर, पद ३। पिव-प्यारी—परमात्मा और जीवात्मा के मिलन की ओर संकेत। पाँच—पंचभूत। पचीसूँ—पंचभूतों की पचीस प्रकृतियाँ। दुंद—द्वंद्व-भाव। अमरित—अमृत पर जो बरस रहा है; परमात्मा का प्रेम।

पद १४—सीर—दुग्ध-धारा; विशेषतः माता के स्तनों की । बुहाज्यो—बहाइएगा । बोछड़ियाँ—बिछुड़ने पर । कुरलाना—करुण शब्द करना । जनाऊँ—बताती हूँ । ऊ—वह । करोला—करेंगे । धरोला—धरेंगे; रखेंगे ।

विशेष अध्ययन के लिये देखिए—

(१) मीरा-मंदाकिनी, नरोत्तमदास स्वामी द्वारा संपादित (युनिवर्सिटी बुकडिपो, आगरा) ।

(२) मीराबाई के पद (बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग) ।

(३) मीरा के भजन (गीता प्रेस, गोरखपुर) ।

(४) मीरा-माधुरी (हिंदी-साहित्य-कुटीर, बनारस) ।

(५) बृहत्काव्य दोहन (गुजराती), भाग ७—भूमिका (गुजराती प्रेस, बंबई) ।

६. सेनापति

ऋतु-वर्णन

१—बृख को तरनि—वृष-राशि का सूर्य्य, १४ मई को सूर्य वृष-राशि पर आता है । तचति—तपती है । झरत—झड़ती है; बरस रही है । झरनि—अग्नि । सीरी—ठंढी; छाँह का विशेषण । धमका—सन्नाटा ।

२—उवै—उदय होने पर । तपन—जलने । भूत—अर्थात् अग्नि जो पंचभूतों में से एक है । नोट—पवन और बन के आगे कामा नहीं होना चाहिए । चपत—चिपक जाता है; छिप जाता है ।

३—रितुपति—रतिपति पाठ होना चाहिए। भारु—भाड़। पुट-पाक—भीतर ही भीतर जलाना; औषध को बंद मिट्टी के बर्तन में रखकर अग्नि में पकाना।

४—जग इ०—जगत् ताप की जलन से जला जाता है। तरनि—सूर्य मानो अग्नि बरसाता है। ही-तल—हृदय-तल।

५—धुरवान—बादल। घोर—बाढ़। कलापी—मोर। जुर—ज्वर।

६—छोह—प्रेम। बाँवन की डग—वामन के विराट् रूप के पग की तरह बड़ी।

७—उनए—उमड़े। घूमरत—घूमते हैं। तोइ—पानी। हरि—वर्षा के चतुर्मास में भगवान् एवं देवता शयन करते हैं।

८—फटिक—स्फटिक नामक पारदर्शी उज्ज्वल पत्थर। अछिन—लगातार। पहल—ढेर।

९—रस—पानी। कुँभजोनि (कुँभयोनि)—अगस्त्य तारा जो आश्विन में उदित होता है और पानी को सुखाता है।

१०—राम के सो जस—मानो राम का यश है, साहित्य में यश का रंग श्वेत माना गया है। अध-उरध (अधः ऊर्ध्व)—ऊपर-नीचे; सर्वत्र।

११—दूरि—सूर पाठ होना चाहिए। गरम—गरमी। लगाइ रहे—आग को।

१२—मूसो...अघटाई—नहीं घटना। तप-ताले—ताप का सरो-वर। कहलाइकै—व्याकुल होकर।

१३—तुखार—तुषार; पाला। ठिरि कै—ठंढे होकर। द्यौस—दिन।

१४—झाँई—छाया। चाहत—देखता है।

१५—क्वैला—कोयला।

१६—सुरति—(१) प्रेम, (२) विहार, (३) स्मृति।

७. बिहारीलाल

दोहे

दो० १-१०—जग-बाइ—जगत् की हवा; संसार-निवासियों का प्रभाव। देखिबी—देखना है। बीधे—उलझे हो; फँसे हो। गीधे—ललचाए; परचे। गीधहिँ—जटायु को। चकई-चकवानु—रात्रि में चकवा और चकवी एक साथ नहीं रह सकते।

दो० ११-२०—अवगाहि—निमग्न होकर। त्यौं—ओर। चाहना—देखना। झाँकि—शरारत; अड़ियलपन। झकुरात—झोंके लेना। खूँदत—उछल-कूद करता हुआ; रौंदता हुआ। जाकी—जिस नायिका की। सबी—तसवीर। कूर भए—ठीक चित्र नहीं खींच सके, इसलिये बेवकूफ बने। जोन्ह—ज्योत्स्ना। अछेह—अंत-रहित; निरंतर। पग पग—एक एक पैर आगे। अगमन—आगे। झूल—झूलकर; ऊपर से नीचे की ओर तिरछे बल में आकर। दुपहरिया—लाल रंग का एक फूल। झझकत—झिझकते; डरते।

दो० २१-३०—नाइनि—नाइन को चरणों की स्वाभाविक लालिमा में महावर का भ्रम हो जाता है। महावरी—महावर-वटी; महावर की गोली। चकोर—यह पक्षी हमेशा चंद्र की ओर देखता है, नायिका का मुख चंद्र के समान है, वास्तविक चंद्र के अस्त होने पर चकोर नायिका के मुख की ओर देखने लगता है। नालैँ—नीलैँ होना चाहिए। चूनो—नायिका

मोती की कांति को भ्रम से ओठ पर लगा चूना समझती है। ईठि—सखी ने। चंद सम—अर्थात् सकलंक। मालती-माल—मालती पुष्पों की श्वेत रंग की माला शरीर के साथ मिलने से स्वर्ण-वर्ण की हो जाती है। तद्गुण अलंकार। रीझिहै—तू रीझेगी।

दो० ३१-४६—डटत—शोभा देता हुआ। नट—नटवर श्रीकृष्ण। अटक भटक—भूलभुलैयाँवाला। बतरस—बातों का आनंद लेने के लिये। सलोने—(१) सुंदर, (२) नमकीन। मनमोहन—मन और मोहन अलग अलग होना चाहिए। लौनु—नमक। पलक—पल भर। पलक—पलकें लगना; निद्रा आना। पलौ—पल भर भी। चैर—निंदा से भरी चर्चा। उहीं—प्रियतम के। हरुए—धीरे। बिहारीलाल—प्रियतम श्रीकृष्ण। ललन—प्रियतम। प्यौ—प्रिय। बसाइ—रखकर। आवत—स्वप्न में दिखाई देता है। दुखौ—दुःख भी चलने को तैयार हुआ है।

दो० ५०-६०—धुरवाँ—बादल। कोद—ओर। परसौंहैं—स्पर्श करनेवाले। मेह—मेघ। जीगननु—जुगनुओं को। संसौ—संशय। हंसौ—(१) जीव, (२) पक्षी। मीचु-सिचानु—मृत्युरूपी बाज। बिछूनीयौ—रहित भी। तरौंस—निचली तह। खरौंहौ—खारा। असोस—न सूखनेवाली। डगर—गली। नै—नदी। अगर-बगर—घर घर। बार—द्वार। अचकाँ—अचानक; नहीं तो आपको देखते ही उसकी देह उल्लसित हो उठेगी। झालरति—बढ़ती।

दो० ६१-७१—रूखी रुख—उदासीनता। घनस्याम (१) काला मेघ, (२) श्रीकृष्ण। सुमन—(१) फूल, (२) श्रेष्ठ मन। बारी—(१)

माली; (२) बाला। बारी—बाड़ी। सुहृदता—प्रेम (श्लेष अलंकार)। नहिं परागु इ०—कहते हैं महाराजा जयसिंह अपनी नई रानी में अत्यंत अनुरक्त होकर राज-काज को छोड़ बैठे और उन्होंने बाहर आना भी छोड़ दिया। इस पर बिहारी ने यह दोहा राजा के पास भेजा जिसका उन पर बड़ा असर हुआ और वे दरबार में आकर राज-काज करने लगे। मनु—मन। वहै—वही; वैसा ही, जैसा कि कृष्ण के साथ होने पर हो जाता था। गहि रहत—आँखों को आकृष्ट कर लेता है। गोधन—गोवर्धन पर्वत। परेखौ—किसी के बर्त्ताव को सोचकर दुखी होना। खरैं बढ़ैं—खरी वृद्धि होने पर; संपन्न होने पर। परिपारि—मर्यादा। पटु—वस्त्र। भखु—भोजन। परेई—कबूतरी। परेवा—कबूतर। तंत्री—वीणा। होत होत—धन होते समय। मोख—मोक्ष।

विशेष अध्ययन के लिये देखिए—

(१) बिहारी-रत्नाकर, जगन्नाथदास रत्नाकर (गंगा-पुस्तकमाला-कार्यालय, लखनऊ)।

(२) बिहारी-सतसई की भूमिका, पद्मसिंह शर्मा।

(३) बिहारी-सतसई, संजीवन भाष्य, पद्मसिंह शर्मा।

(४) बिहारी-बोधिनी, लाला भगवानदीन (साहित्य-सेवा-सदन, काशी)।

(५) बिहारी-सतसई (हिंदी पुस्तक-भंडार, लहरिया सराय)।

(६) संक्षिप्त बिहारी, रमाशंकरप्रसाद (इंडियन प्रेस, लिमिटेड, प्रयाग)।

१. अयोध्यासिंह उपाध्याय

रास-क्रीड़ा

यह अंश प्रिय-प्रवास महाकाव्य के चतुर्दश सर्ग से, कुछ संक्षिप्त करके, लिया गया है।

पृ०—१११-१२१—ककुभ—दिशा; समाहार अर्थ में बहुवचन की जगह एकवचन आया है। सिताभा—उज्ज्वल श्वेतवर्ण चांदनी। सितता—सफेदी; निर्दोषिता। काश—एक सफेद फूल। स्वच्छोदका—निर्मल जलवाली। उच्छ्वास—नदी का ऊँचा श्वास अर्थात् उमड़ा हुआ प्रवाह। प्लावन-कूल-कारी—कूल-प्लावन-कारी। अगस्त—अगस्त्य तारा जो आश्विन में उदित होता है। राका—पूर्णिमा। सिता—चाँदनी। न्यारी इ०—तुहिनदीधिति (चंद्रमा) की कला की न्यारी स्वच्छता की सुसंगति। दिव्यांबरा—(१) दिव्य वस्त्रोंवाली, (२) दिव्य आकाशवाली (श्लेष)। पुरंध्री—घर की बड़ी स्त्री; यहाँ स्त्री। आदौ—पहले; आदि में (यह संस्कृत अधिकरण का रूप है)। रागांगना—राग-रूपी स्त्री। उलही—लहलहाती हुई; उल्लसित। असेत-सरि—काली नदी; यमुना। तद्गता—तन्मय। जाता—उत्पन्न। ऋजु रंध्र—सरल छंद। कला—(चंद्रमा की)। धौत—धुले हुए। सिक्त—सिंचित। अर्कजा—यमुना। छपा-पती—क्षपा (रात्रि) का पति; चंद्रमा। साटी—साड़ी। मलिनांतरों का—मलिन हृदयवालों का; कपटियों का। मिस कैरव—कुमुदिनी के बहाने। हृष्ट—हर्षित। कुमुदिनी नहीं खिल रही है किंतु पानी प्रफुल्लित हो रहा है। आपाद-मस्तक—सिर से पैर तक। भूपा—भूषण। सरी—नदी। शर्वरी—रात्रि।

२. जगन्नाथदास 'रत्नाकर'

गंगावतरण

१-१०—अंजली बाँधि—हाथ जोड़कर। चिल्लू भर पानी—भगीरथ ने वरदान माँगा था कि यद्यपि आप सर्वस्व-दानी हैं तो भी मैं केवल 'चिल्लू भर पानी' चाहता हूँ; अब भगीरथ को अंजली बाँधे देखकर ब्रह्मा को वही चिल्लू भर पानी की बात याद आ गई। ठिक ठायौ—ठीक समझा। ब्याल-पति—शेष। चतुरानन-धारी—चार मुख धारण करनेवाले; ब्रह्मा। धमकि—बड़े जोर के आघात से शब्दायमान और कंपित होकर। दिग—दिशाओं के। थहरान—काँप गया। गौन—गमन; चलना। सनासन—सन्नाटा। सकाइ—शंकित होकर। हहरे—चौंके; घबराए। ढहरे—लुढ़के। ठमकि—रुककर। थहरे—काँप गए। पर्व—पूर्णिमा, जब समुद्र में ज्वार आता है। लुरि—हिलकर। लहरे—तरंगित हो गए; हिलोर मारने लगे; उमड़ने लगे। माषे—क्रुद्ध हुए। भंग—तरंग। भंग—भाँग।

११-२०—चाय भिनि—चाव में भरकर। चोपे—चाव में भरे। करिहायँ—कमर। ठाए—स्थिर हुए। सितभानु—चंद्र। ब्रह्मद्रव—ब्रह्म का द्रवित रूप; गंगा। बिहंडति—काटती हुई; खंड खंड करती हुई। चमकि—चौंककर। हरके—रोके हुए। थरके—थर्राते हुए दरेर—रगड़। घहरावति—शब्द करवाती है। धुधकारि—गरजकर। काटति कावा—चक्कर खाती हुई। बोहत—डुबाती हुई।

२१-३०—चिलक—चमक। बिस्तर—विस्तृत; बड़ा। उए—उदित हुए। हरहराति...उसावत—गल्ले को हवा में उड़ाना जिससे भूसा

और नाल अलग अलग हो जायँ। कलित (कलति पाठ होना चाहिए)— धारण करती हुई। कागदी—सफेद। गोत—झुंड। उलरि—उलट-कर। गोति—इकट्ठे होकर। गुथि—लिपटकर। उलहत—निकलते हैं।

३१-४२—उदेग—उद्वेग। आँधी के पोत—आँधी में उमड़े हुए जहाज। फुही—जलकण। फाब—छबि। निज अंगी कीन्हे—अंग पर पहने। पटापटी—अनेक रंग की वस्तु। आनहि के—माने। दूसरे के हो गए; परवश हो गए। सुरट—सुंदर शब्द। उघटी—प्रकट हुई। भव—महादेव।

३. रामचंद्र शुक्ल

महाभिनिष्क्रमण

यह अंश बुद्ध-चरित महाकाव्य के चतुर्थ सर्ग से, कुछ संक्षिप्त करके, लिया गया है।

पृ० १३५-१३९—रामजन्म-उत्सव के इ०—राम भी बुद्ध की तरह कोशल के राजकुमार थे। रोहिनि—रोहिणी नक्षत्र जो चंद्रमा की स्त्री है। तोरणवाद्य—बहिर्द्वार पर बजनेवाले बाजे। फेरु—गीदड़। मर्मर—संगमर्मर। अमरीन—देवांगनाएँ। पट—परदे। संग पुरावत—साथ देती है। गोपा—बुद्ध की पत्नी; यशोधरा उसी का दूसरा नाम है। चाहि—देखकर। करके—कड़के; टूट गए। मल्लिका-दाम—मल्लिका के फूलों की मालाएँ। चीथि—टूटकर। उधिराई—अलग हो गए।

पृ० १४०-१४७—आरोहक्रम—क्षुद्र और अल्प चेतनावाले जीवों का क्रमानुसार उन्नति की ओर विकास। अवरोह—अवनति की ओर विकास।

उष्मज—पसीने, मैल आदि से उत्पन्न छोटे छोटे जीव। गोत—संबंधी। शाप—दुःख। अरणी—काठ का यंत्र जिससे अग्नि बनाई जाती है। मृत्युंजय—मृत्यु को जीतनेवाला। गंगा औ गौतमी—यशोधरा की दो सहेलियाँ। चापौ—दबा दो। जावँ—जाऊँ। भरत—बिताते हैं। चहि रहे—देख रहे थे। जोह्यो—देखा; परवा की। छंदक...कंथक—बुद्ध के सारथी और घोड़े के नाम। तुषार—घोड़ा। झकझक—चमकता हुआ। केसर—अयाल। शुक्र—शुक्र तारा। पचिहौं—प्रयत्न करूँगा।

४. मैथिलीशरण गुप्त

भरत और मांडवी

यह अंश साकेत महाकाव्य के एकादश सर्ग से लिया गया है।

पृ० १९१-१९६—रत्न-दीप—रत्नों के दीपक जिनको जलाना नहीं पड़ता। उटज-अजिर—कुटिया का आँगन। देव-विग्रह—देवता की मूर्ति। मिले भरत में—भरत का स्वरूप श्री राम के जैसा ही है। आठ इ०—भरत का कथन। विरूपाक्ष—भयंकर; शिव का एक नाम। वरुनी—बरौनी। वरुणालय—समुद्र। देवर—शत्रुघ्न। महार्घ—महँगा; अधिक मूल्यवान्। हलाहल—घोर विष। खला—अखरा। कोई तापस इ०—राम तापस थे, लक्ष्मण त्यागी थे, भरत वैरागी थे। चित्रकूट—जहाँ राम सीता और लक्ष्मण के साथ रहे थे। नंदिग्राम—जहाँ भरत मांडवी और शत्रुघ्न के साथ थे।

उर्मिला-लक्ष्मण-मिलन

यह अंश साकेत महाकाव्य के द्वादश सर्ग से लिया गया है।

पृ० १५६-१५९—स्वप्न की इ०—स्वप्न की माया सत्य हो गई है। वे गीत—जिन्हें ऊर्मिला वियोग में गाती थीं। शुक्ति—सीप। रीति—उचित व्यवहार। शेफाली—शेफालिका नामक फूल का पौधा। वनवासी—लक्ष्मण। सुमन—(१) फूल, (२) सद्भावनामय मन (लक्ष्मण दूसरा अर्थ ही लेते हैं)। यह हत हरिणी—ऊर्मिला वियोगावस्था में इस वाक्य को कहा करती थी, मैना ने उसे याद कर लिया था। आर्या—सीता। आर्य—श्रीराम। परिधि-विहीन—अंत-रहित। अहोरात्र—रात-दिन। खेला—क्रीड़ा। वेला—(१) एक समय; अवस्था, (२) लहर; ज्वार।

५. जयशंकर 'प्रसाद'

कब

पृ० १६३—कादंबिनी—मेघ-माला। सिकता—बालू। सकल कामना—समस्त कामनाओं के मूल कारण नष्ट होकर पूर्ण शांति कब प्राप्त होगी ? विरति—वैराग्य-जनित शांति।

वे दिन

पृ० १६३-१६४—इन आँखों की—आँखें भी स्नेह-जल निरंतर बरसाती थीं। छाया—प्रतिरूप। विधुर—रहित। स्वरवाली—स्वर-युक्त। हरियाली—हरियाली को उत्पन्न करनेवाली वर्षा। जलधर—बादल।

मेघों के प्रति

पृ० १६४-१६५—अलका—कुबेर-पुरी, जो उत्तर में हिमालय पर्वत पर है। विरहिणी—यक्षपत्नी (महाकवि कालिदास का मेघदूत देखिए)। निकुरंब—समूह। संकोच—कि कहीं सरोज-वन मुरझा न जायँ।

ज्वाला—वेदना। झुके हुए—उमड़े हुए। मानस-निधि—मन-रूपी समुद्र। बड़वानल—समुद्रीय अग्नि। प्रणय—प्रेम-रूपी सूर्य्य-किरण से। अनंत—आकाश। मंथर—धीमी। अतीत—भूतकालिक।

खोलो द्वार

पृ० १६५—कमली—ओढ़ने का कंबल। कवरी—केश-पाश। अरुण—सूर्य्य। धूलि—पाप-जनित मलिनता की ओर संकेत।

आँसू

पृ० १६६-१६७—शून्य—(१) आकाश का शून्य, (२) कोमल भावों से विहीन। प्रतिध्वनि—करुण रुदन। देती फेरी—चक्कर काटती। ऊषा—उत्थान; जो सुखमय होती है उसमें भी दुःख छिपा है। संध्या—अवसान; जो दुःखमय होता है। घनीभूत—जमी हुई। दुर्दिन—(१) दुःख का दिन, (२) बादलों से छाया हुआ दिन। नील निलय—आकाश। खाली न इ०—जिनका जीवन सदैव सुखमय है। शून्य (१) वेदना के कारण शून्य, (२) आकाश। रंग—प्रेम का रंग। वेदना इ०—छद्म रूप में वेदना रहती है, जो पहले नहीं दिखाई देती पर जाने पर फाँस लेती है। प्रत्यावर्त्तन—लौटना। उच्छ्वास इ०—अर्थात् उच्छ्वास और रुदन में विश्राम छिपा रहता है; मिलाओ "पूरोत्पीडे तडागस्य परीवाहः प्रतिक्रिया। शोकक्षोभे च हृदयं प्रलापैरेव धार्यते। (भवभूति)" रोई इ०—रोते रोते निद्रा आ जाती है और स्वप्न दीखने लगता है जिससे विश्राम मिलता है।

किरण

पृ० १६८—अनुराग—(१) लाल रंग, (२) प्रेम। दूती—संदेश लानेवाली। अरुण—सूर्य्य। अश्रांत—बिना थके। उस—उषा के। कोकनद—रक्त कमल। विरज—(१) निर्मल, (२) रजोगुण रहित। वलय—कंकण। सुमन—(१) फूल, (२) श्रेष्ठ मन।

६. रामनरेश त्रिपाठी

बसंत की विचार-धारा

यह अंश स्वप्न खंड-काव्य के द्वितीय सर्ग से, संक्षिप्त करके, लिया गया है।

पृ० १७१-१८१—किसकी सुख-निद्रा का इ०—परमात्मा की ओर संकेत। सविता—सूर्य। मंजु मोतियों से—मोतियों के समान ओस-बिंदुओं से। राज-कर—राज्य का टैक्स। नार—अग्नि (काश्मीरी भाषा)। श्यामा—कालिमा या रात्रि। लहरें लेता—चंचल लहरों में प्रतिबिंबित होकर लहराता है। राशि राशि—ढेर के ढेर। अंतराल—मध्य भाग। पुरुष-प्रिया—प्रकृति। संकुलित—एकत्र; संगृहीत। स्वर्ण-मुकुट—संध्या समय सूर्य की किरणों से बर्फ लाल-पीली हो जाती है। चेतन जगत—मनुष्य और पशु-पक्षी घरों को लौट रहे हैं। अंशुधर—सूर्य। चय—समूह। गुण—(१) रस्सी, (२) सद्गुण। संगर—युद्ध। अतिक्रम—संचरण। छाया-तम—परछाईं। अंध सारथी—मन। जीर्ण रथ—शरीर। प्रवाह पर—जैसे पत्ता नदी के प्रवाह में बहता जाता है; संसार का प्रवाह।

७. सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला'

प्रताप के प्रति

पृ० १८३-१८४—अचल—पर्वत। बुद्ध—भगवान् गौतम बुद्ध। साम्य-व्यवहार—सबके साथ समानता का बर्त्ताव। पिता का कोई दूत—पत्थर; शिला। भर जाते इ०—जड़ पत्थर भी गूँजने लगता है।

तरंगों के प्रति

पृ० १८४-१८५—अनंत—विस्तृत समुद्र। नीला अंचल—नीला समुद्र। अंबर—वस्त्र। तिमिर-तल—समुद्र का अँधेरा तल। गंध-मंद-गति—गंध की भांति मंद गति। मौन-भंग—लहरों के चलने में कंप-जनित शब्द। कर मलना—पछताना। विस्मृतियाँ—उन मृतों को लोग धीरे धीरे भूल जाते हैं। दग्ध चिता—समुद्र के किनारे मृत शरीर जलाए जाते हैं और अवशेष पानी में फेंक दिया जाता है। नश्वरता की कृतियाँ—मनुष्य। अबलाओं—जो स्त्रियाँ अपने पति-पुत्र आदि संबंधियों के लिये रोती हैं। असीम—अनंत समुद्र।

विफल-वासना

पृ० १८५-१८६—तप्त अश्रु—दुःख से उद्भूत। मलिन—पुरानी बन जाने से विस्मृत या धुँधली हो जाने के कारण। गोद पर बैठी—याद करती हुई। रुद्ध—बंद। नूपुर—जो मानो मेरी वेदना से बजते हैं। अनुरागिनियाँ—तुम्हारी प्रियतमाएँ, जिन्हें तुम प्यार करते हो। छिन्न—'हो जाते हैं' क्रिया का पूरक।

अंजलि

पृ० १८७-१८८—सुहाग-शृंगार—प्रियतम। छीन ले इ०—मुझे अपने अधिकार को, जो मेरा तुम पर हो उसे, न पाने दे। परिहार—त्याग।

जागो फिर एक बार

पृ० १८६-१६१—अरुण-पंख—रक्तवर्ण पाँखोंवाली। तरुण—नई; प्रातःकालीन सूर्य की किरण। विभावरी—रात्रि। यामिनी-गंधा—रजनी-गंधा नामक पुष्प जो रात्रि में विकसित होता है। चकोर-कोर—चकोर की आँखों की कोर। स्वप्निल—स्वप्नमय; स्वप्न का। सुप्ति—निद्रा। ऋजु—सीधे। प्रसार-गामी—फैलनेवाले। भारती—सरस्वती।

८. सुमित्रनंदन पंत

काला तो यह बादल है

पृ० १६३-१६४—कुमुदकला—कौमुदी। बादल—माया-जनित हृदय की मलिनता की ओर संकेत। क्रीड़ा का स्थल—जहाँ ईश्वरीय ज्योति सदा खेलती रहती है। हिम-दल—ओस अर्थात् अश्रु। जब इ०—जब यह हृदय की मलिनता परिताप द्वारा आँसू बनकर बह जायगी।

कुसुम-जीवन

इस कविता में प्राकृतिक कुसुम-जीवन और अप्राकृतिक मानव-जीवन का विरोध प्रदर्शित किया गया है।

पृ० १६४-१६५—पल—प्रत्येक क्षण। इन—अर्थात् मेरे। स्मिति—मुसकुराहट। बन की इ०—कली दुःख की गोद में पलकर भी सुखी रहना जानती है। जीवन के इ०—जीवन के सुख की उत्पत्ति दुःख से ही है। काँटे—दुःख। तपता—कष्टों में पड़ता है। तपता इ०—सोना तपाने से ही उज्ज्वल निकलता है उसी प्रकार दुःख-रूपी आँच में तपकर ही जीवन उज्ज्वल होता है। दावा—दवाग्नि। अंकुर पाता—सूर्य की गर्मी से अंकुर फूटते हैं। गर्जन—मेघों की गर्जना की भाँति दुःखी जनों का भीषण करुण रव। नव-जीवन—(१) नया पानी, (२) नया जीवन।

झर गई कली

पृ० १६५-१६६—चल—चंचल; धारा-मय। सौरभ—सुगंध। बसी—भरी हुई। विहँसी—खिली। फेनिल—फेनमय। मोती—पानी की बूँद जो मोती की भाँति चमकती है। फहरना—विकास का कंपन। लेन-देन—आदान-प्रदान। अपनाकर सबका अपनापन—सब के मोह में फँसकर।

प्रथम रश्मि

पृ० १६६—हे रंग-विरंगी विहग बालिका! तूने यह किस भाँति जाना कि सूर्य की पहली किरण आ गई है।

तूने यह गाना किससे सीखा ? (तू बड़ा मधुर गाती है।)

तू तो अपने अंगों को पंखों के नीचे समेटकर सुख से स्वप्न-नीड़—शयनगृह अर्थात् घोंसले में सो रही थी।

अभी तो रात ही थी; क्योंकि तेरे घोंसले के आस-पास जुगनू (रात्रि के अंतिम पहर में) चौकीदार की तरह घूमकर ऊँघ रहे थे।

पृ० १६७-१६८—चंद्र किरणों के द्वारा पृथ्वी पर उतरकर इच्छा के अनुसार रूप धारण करनेवाले देवता (नभचर) नई कलियों के कोमल मुँह चूमकर उन्हें हँसना सिखा रहे थे; क्योंकि अभी थोड़ी ही देर में उन्हें हँसना पड़ेगा। बिना तेल के तारा-रूप दीपक जल रहे थे। पेड़ों की पत्तियाँ साँस नहीं ले रही थीं अर्थात् हवा से हिलती न थीं। पृथ्वी में स्वप्न घूम रहे थे। अंधकार ने अपना शामियाना फैलाया था। (उषःकाल से पहले खूब घना अंधकार छाया रहता है।) ऐसे ही समय में, जब कि पहली किरण के आने का कोई लक्षण न था, हे पेड़ पर बसनेवाली ! तू अचानक स्वागत का गान गाने लगी।

हे सबके भीतर रहनेवाली (मालूम होता है कि तू घट घट की बात जानती है, नहीं तो बता) तुझे उसका आना किसने बताया ?

सृष्टि के अंधकारमय गर्भ से निकलकर बहुत से दुष्ट भूत-प्रेत, जिनका शरीर छाया का बना होता है और जिनकी छाया नहीं पड़ती, अपने जादू-टोने चलाकर षड्यंत्र रच रहे थे। (मानो इन्हीं के भय से) रात्रि के परिश्रम से क्लांत शोभाहीन जुन्हैया अपना मुँह छिपा रही थी (चंद्रमा अस्त हो रहा था)।

अभी कमल की गोद में भौंरा कैद पड़ा था (क्योंकि सूर्य्य-किरणों के अभाव में कमल रात को मुकुलित रहते हैं)।

चकवा अपनी चकवी के वियोग-जनित शोक से पागल था (रात्रि में इनका वियोग होता है, सूर्योदय पर फिर मिल जाते हैं)।

(लोगों के सोए रहने के कारण उनकी) इंद्रियाँ मूर्च्छित (निर्जीव सी) पड़ी थीं। संसार निःस्तब्ध निश्चेष्ट हो रहा था। जड़ और

चेतन सब एक से हो रहे थे। सृष्टि शून्य सी मालूम पड़ रही थी। मानो उसमें कोई है ही नहीं। केवल जीव-जंतु साँस ले रहे थे, यदि जीवन का कोई चिह्न था तो यही।

हे विहंगिनी! तुझे दूर की सूझी, सबसे पहले तूने ही प्रभाती की तान छेड़ी; और, हे आकाश-विहारिणी! इस प्रकार तूने ही शोभा, सुख और सुगंधि का सम्मेलन कराया। (कपड़े की बुनावट में लंबाई में जो तागा गुँथा रहता है वह ताना और जो चौड़ाई में रहता है वह बाना कहलाता है।)

मानो अचानक आकार रहित तम (परमात्मा का भी कोई आकार नहीं है) प्रकाश के प्रसार में साकार हो शीघ्र ही अनेक नाम और रूप धारण कर जगत् बन गया। (देखो—आसीदिदं तमो-भूतम्—मनु०। नामरूपे व्याकरवाणि—उपनिषद्।)

पेड़ों के पत्ते हर्ष से रोमांचित होकर काँप से उठे।

सोई हुई वायु ने धैर्य छोड़ दिया, अर्थात् चंचल होकर चलने लगी।

फूलों के दल पर ओस की बूँदें हिलकर मोती के दानों के समान चमकने लगीं। उस समय ऐसा मालूम होता था मानो फूलों के ओठों के दलों पर हँसी झलक रही हो।

सबकी पलकें खुलीं। सूर्य्य की सुनहली किरणों से सारी सृष्टि सुनहली हो गई।

महक खिल उठी, भौंरे उड़ने लगे (डोलने में एक फूल से दूसरे फूल पर उड़ जाने का भाव है)।

धड़कन, गति और नया जीवन इनको जगत् ने अपनाना सीखा अर्थात् अपनाया (सारी प्रकृति में जीवन के लक्षण दिखाई देने लगे)।

स्वर्गिक—स्वर्ग का।

छाया

पृ० १६६-२००—दमयंती सी—नल दमयंती को पेड़ के नीचे सोती हुई छोड़कर चले गए थे।

अलि—हे सखी! विरक्त लोग सूखे पत्तों की शय्या पर ही लेट रहते हैं, बिस्तर की उन्हें अपेक्षा नहीं रहती। तुम भी सूखे पत्तों पर लेटी हुई साक्षात् विरक्ति ही मालूम पड़ रही हो। तुम ऐसी निश्चेष्ट पड़ी हुई हो मानो स्वयं मूर्तिमती मूर्च्छा ही हो।

इस निर्जन वन में विरह से मलिन और दुःख से व्याकुल तुम कौन पड़ी हो?

पश्चात्ताप की छाया सी भूमि पर निश्चेष्ट पड़ी हुई हो। तुम साक्षात् दुबलापन और अँगड़ाई सी जान पड़ती हो। तुम अपराधिनी की तरह डर से चुप हो। आखिर तुम हो कौन?

क्या तुम इस निर्जन वन के बीच, निर्जनता के हृदय की पाटी पर, निर्दय काल की निर्दयताओं का इतिहास बार बार ठंडी आहें भरकर लिख रही हो?

अपने जीवन के मैले पन्ने पर तुम आप-बीती का वह करुणोत्पादक तथा अत्यंत कोमल चित्र खींच रही हो जो बिना बोले ही सब कुछ कह डालता है। (अर्थात् तुम पर कोई आपदा आई थी जिसने तुम्हारी यह दुर्दशा कर दी है।)

सूर्य-कुल में सुंदर जन्म पाकर (क्योंकि जब सूर्य का प्रकाश होता है तभी छाया पड़ती है) नित्य इस श्रेष्ठ पेड़ के साथ वृद्धि पाती हुई (जैसे जैसे पेड़ बढ़ता है वैसे वैसे उसकी छाया भी बड़ी पड़ती है) पेड़ से मुरझाकर गिरे हुए पत्तों से तू अपना कोमल शरीर ढकती है (अर्थात् वे तेरी साड़ी बनते हैं)।

तुम परोपकार में लगी रहती हो, नित्य थके हुओं को अपनी छाया में विश्राम देकर उनकी बेहद थकावट मिटाती हो।

हे सखि, हम एक दूसरे का आलिंगन कर अपने (विरह-तपे) प्राण शीतल कर लें जिससे फिर तुम अपने स्वामी अंधकार में—जो प्रकाश के डर से तुम्हें छोड़ भाग गया है—और मैं प्रियतम (परमात्मा) में शीघ्र ऐसे मिल जायँ कि हमारा अलग अस्तित्व ही न रहे।

सोने का गान

पृ० २००-२०१—सोने का—सुवर्ण-सदृश मनोहर और सुखमय। मदिर—मादक। अनजान—अज्ञात रूप से। पुलकों का—पुलक-मय; उमंग से भरा हुआ। विहान—प्रभात। विफल हुई—किसी अज्ञात के प्रेम की पीड़ा से आतुर हो उठी और गाने लगी। कोमल बाण लगा—हृदय में प्रेम-पीड़ा उद्भूत हुई। स्वप्न—निद्रा। कनक-कर—सूर्य की किरणें; सूर्य ईश्वर का ही रूप है। सजल—अश्रुपूर्ण; करुणा से उद्भूत। मेरा सोने का गान—मेरा वही गान जो मेरे हृदय में भी उत्पन्न होता है। कवि और पक्षी के गान का सामंजस्य दिखाया गया है, दोनों की प्रेरणा एक ही स्थान से होती है।

मौन निमंत्रण

पृ० २०१-२०४—कौन—समय समय पर परमात्मा के संदेश मनुष्यों को मिलते हैं। प्राकृतिक दृश्य परमात्मा के ही अंश से उद्भूत हैं वे अपने सौंदर्य से मनुष्य के हृदय को आकर्षित करते हैं और ईश्वरीय संदेश सुनाते हैं। क्या प्राकृतिक शांति, क्या प्राकृतिक संघर्ष, क्या व्यथा और क्या विलासिता, सभी में ईश्वरीय संदेश निहित रहता है। यौवन-भार—खिले हुए पुष्प इत्यादि। मधु-मास—वसंत का महीना। विधुर—व्याकुल; विरह-व्याकुल। बोर देती है—डुबा देती है। कनकछाया—उषःकाल। सकाल—सवेरे। गुंजार—ऐसा गुंजार करते हैं कि ज्ञात होता है मानो वे गुंजार-रूप ही हैं। बिछा—फैला-कर। सुवर्ण-अवसान—सूर्यास्त के समय आकाश सुनहरे रंग का हो जाता है। छाया-जग—स्वप्न-जगत्। छिद्रों में—प्राणों में।